भारतीय दर्शनों में आत्मवादी विचारधारा का विकास
शाङ्कर वेदान्त के विशेष सन्दर्भ में

(बुन्देलखण्ड वि. वि. झांसी की पी-एच. डी. उपाधि के लिए प्रस्तुत शोध प्रबन्ध)

卐

वर्ष–१९९५

शोध पर्यवेक्षक

डा. गदाधर त्रिपाठी

रीडर एवम् अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग

अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मऊरानीपुर (झांसी) उ. प्र.
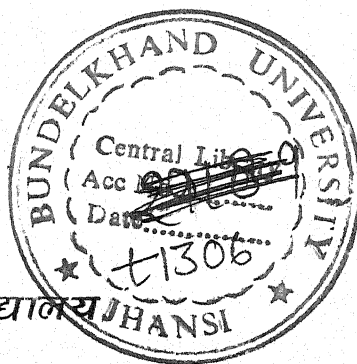
शोधकर्त्री–

श्रीमती प्रभा यादव
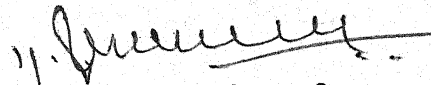
३१२, सदर बाजार

झाँसी (उ. प्र.)

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर (झांसी)

प्रमाण - पत्र
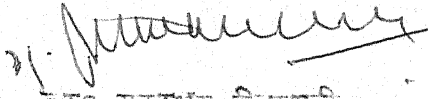
प्रमाणित किया जाता है कि श्रीमती प्रभा यादव ने मेरे निर्देशन में निर्धारित समय (लगभग 200 दिन तक) में रहकर शोधकार्य किया है। यह इनकी स्वतंत्र अध्ययन दृष्टि का परिणाम है। मैं इनके सतत् साफल्य की कामना करता हूं।

(डॉ० गदाधर त्रिपाठी)

प्रमाण पत्र

****

प्रमाणित किया जाता है कि श्री मती प्रभा यादव ने मेरे निर्देशन में निर्धारित समय तक रहकर अपना शोध कार्य पूर्ण किया है। यह इनकी मौलिक कृति है जो इनकी अनुसन्धान दृष्टि को प्रकट करती है। मैं इनकी सतत् साफल्य की कामना करता हूँ।

सम्वत् 2052

डा० गदाधर त्रिपाठी

रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत - विभाग

श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय

मऊरानीपुर

दो शब्द

भारतीय दर्शन परम्परा न केवल शास्त्रीय दृष्टि से एक समृद्ध और प्रतिष्ठित परम्परा है अपितु इसके माध्यम से जीवन की उन जिज्ञासाओं का समाधान भी सहज रूप में किया गया है जिनसे एक सामान्य व्यक्ति जीवन भर जूझता रहता है। उदाहरणार्थ वह यह कभी भी निष्कर्ष के रूप में निर्णय नहीं कर पाता कि यह संसार यथार्थ में कैसा है और इसमें उसकी स्वयम् की क्या भूमिका है। भारतीय दर्शन इन सभी प्रकार की जिज्ञासाओं का न केवल तार्किक समाधान प्रस्तुत करता है अपितु इससे व्यक्ति का व्यावहारिक जीवन भी यथार्थ के धरातल पर जीवन जीने का सम्बल पा जाता है। यही कारण है कि अपने अध्ययन काल में ही जब मुझे मेरे आदर्श गुरुवर स्वर्गीय डा० सीताराम दातरे ने एम० ए० करने के पश्चात् शोध कार्य करने के लिए प्रेरित किया था तो मेरे मन में दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश करने की उत्सुकता जगी थी। आज उन स्वर्गीय डा० दातरे जी का पावन स्मरण करती हूँ।

मेरे पूज्य पिता श्री एस० के० पालिया और मेरी सास स्वर्गीया श्रीमती ललिताबाई के मन में यह इच्छा रही है कि इनके परिवार में उच्चशिक्षा के मानदण्ड स्थापित हों। आज उनकी इच्छा साकार रूप में सामने है। मेरा उन दोनों को नमन् ।

मैं अपने निर्देशक डा० गदाधर त्रिपाठी, रीडर, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, श्री अग्रसेन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मऊरानीपुर, झाँसी के प्रति भी कृतज्ञ हूँ जिनकी सहयोगात्मक वृत्ति से यह शोध प्रबन्ध पूर्ण हुआ। इसी प्रकार से मैं राजकीय पुस्तकाध्यक्ष, श्री राकेश पाठक तथा बुन्देलखण्ड विश्व विद्यालय के अधीक्षक श्री कमलेश शर्मा के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपना सहयोग

देकर मुझे कृत कार्य किया। परिवार के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करते हुए मेरे विकास में किए जाने वाले संघर्ष के साथी मेरे पति श्री दिनेश कुमार यादव तो मेरी तरह से ही कृतकार्य हुए। एक प्रकार से यह उनके ही अथक् प्रयत्न का परिणाम है। और अन्त में इस शोध प्रबन्ध को टाइप कर पूर्णता देने वाली कु0 इन्दु नौखरा को भी मैं धन्यवाद करती हूँ। इति।

प्रभा यादव
शोध कर्त्री
(प्रभा यादव)

प्रथम अध्याय

(वेदों में आत्मवादी अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप)

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन उपनिषदें और उनमें आत्मा का स्वरूप)

तृतीय अध्याय

(आत्मवादी दर्शन और उनमें आत्मा का स्वरूप)

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

उद्धृत ग्रन्थ संकेत सूची

(1)

संकेत	ग्रन्थ
1. अथर्व (I)	अथर्ववेद (प्रथमखण्ड)
2. अथर्व (II)	अथर्ववेद (द्वितीय खण्ड)
3. आ० वि०	आत्मानात्मविवेक
4. इ० ए०	इण्डियन एन्टीक्वेरी
5. इ० पू० मी०	इण्ट्रोडक्शन टू पूर्वमीमांसा
6. ई० उ०	ईशावास्योपनिषद्-हरिभाष्य
7. ई० द० (ऐ० उ०)	ईशादिदशोपनिषद: (प्रथम भाग)
8. ई० द्वा० उ०	ईशादिद्वशोपनिषद्
9. उप०	उपस्कार
10. उ० त० ज्ञा०	उपनिषदों का तत्वज्ञान भाग-।
11. उ० र० स०	उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण
12. उ० स० सं०	उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति
13. उ० ज्ञा०	108 उपनिषद् (ज्ञानखण्ड)
14. ऋक् (I)	ऋग्वेद (प्रथमखण्ड)
15. ऋक् (II)	ऋग्वेद (द्वितीय खण्ड)
16. ऋक् (III)	ऋग्वेद (तृतीय खण्ड)
17. ऋक् ( )	ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड)
18. ऋ० सं० (प्र०)	ऋग्वेद संहिता (प्रथम भाग)
19. ऋ० सं० (द्वि०)	ऋग्वेद संहिता (द्वितीय)
20. ऋ० सं० (तृ०)	ऋग्वेद संहिता (तृतीय भाग)
21. ऋ० सं० (च०)	ऋग्वेद संहिता (चतुर्थ भाग)
22. ऋ० दा० त०	ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व
23. रि० फि० उ०	रिलीजन एण्ड फिलासफी
24. क० शां०	कठोपनिषद् शांकरभाष्यम्
25. किर०	किरणावली
26. किरणा०	किरणावली
27. के० उ०	केनोपनिषद्

28• छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
29• ज० ओ० ए० सो०	जरनल आफ एशियाटिक सोसाइटी
30• ज० रा० ए० सो०	जर्नल आफ रायल एशियाटिक
31• त० दी०	तर्क दीपिका
32• त० भा०	तर्क भाषा
33• त० सं०	तर्क संग्रह
34• त० सं० (न्या०)	तर्क संग्रह
35• त० कौ० प्र०	तत्त्व कौमुदी प्रभा
36• त० सि० र०	तन्त्रसिद्धान्तरत्नावली
37• द्वै० ता० अ०	द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन
38• नि०	निरुक्त
39• न्या० क०	प्रशस्तपादभाष्यम्
30• न्या० कु०	न्याय कुसुमांजलि
31• न्या० द०	हिन्दी न्याय दर्शन
32• न्या० मं०	न्याय-मंजरी
33• न्या० ली०	न्याय लीलावती
34• पा० यो० प्र०	पातंजलयोगप्रदीप
35• प्र० उ०	प्रश्नोपनिषद्
36• प्र० पं०	प्रकरण पंजिका
37• प्रि० उ०	द प्रिंसिपल उपनिषद्स
38• ब्र० सू० शां०	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
39• बौ० अ० वि०	बौद्ध दर्शनेषु अनित्यतानात्मता-वादयोर्विकासो विमर्शश्च
40• बौ० वे०	बौद्ध दर्शन और वेदान्त
41• भ० गी०	श्रीमद् भगवद् गीता

42. भ० गी०	श्रीमद् भगवद् गीता
43. भा०	श्रीमद् भागवत पुराण
44. भा० द०	भारतीय दर्शन
45. भा० द० §ब§	भारतीय दर्शन
46. भा० द० इ०	भारतीय दर्शन का इतिहास
47. भा० न्या० शा०	भारतीय न्याय शास्त्र- एक अध्ययन
48. मा० मे०	मानमेयोदय
49. मा० मे० § ना०§	मानमेयोदय §नारायणद्वयी प्रणीत§
50. मि० वि०	मिथिला विद्यापीठ वृत्ति
51. मी० द०	मीमांसा दर्शन
52. मी० प्र०	मीमांसा प्रमेय
53. मी० श्लो० वा०	मीमांसा श्लोक वार्तिक
54. यजु०	यजुर्वेद
55. वि० पु० §I§	श्री विष्णु पुराण प्रथमखण्ड
56. वि० पु० §II§	विष्णु पुराण द्वितीय खण्ड
57. वे० द० §पाल§	वेदान्त दर्शन
58. वे० प०	वेदान्त परिभाषा
59. वे० सा०	वेदान्त सार
60. वै० इ०	वैदिक इण्डेक्स भाग-I
61. वै० उ० स० अ०	वैष्णव उपनिषदों का समीक्षात्मक अध्ययन
62. वै० ए०	वैदिक एज
63. वै० द०	वैदिक दर्शन
64. वै० द०	वैशेषिक दर्शन - तुलनात्मक
65. वै० फि०	वैशेषिक फिलासफी

66. वै० मा० — वैदिक माइथौलोजी
67. वै० सू० — वैशेषिक सूत्र
68. वै० द० अ० — वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन
69. वै० सा० सं० (ब) — वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
70. वै० सा० सं० — वैदिक साहित्य संस्कृति
71. श० ब्रा० — शतपथ ब्राह्मण
72. श० ब्रा० — शतपथ ब्राह्मण
73. श० ब्रा० सां० अ० — शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन
74. शा० दी० — शास्त्र दीपिका
75. श्वे० — श्वेताश्वतरोपनिषद्
76. साम० — सामवेद
77. सा० — सागरिका
78. सा० सु० — सारस्वती सुषमा
79. सा० सु० — सारस्वती सुषमा वर्ष 19 अंक 13
80. सि० इ० फि० — सिक्स सिस्टम्स्आफ इण्डियन
81. सां० सू० — सांख्य सूत्र
82. मी० वे० दे०सं० — सेश्वर मीमांसा आफ वेदान्त देशिक
83. हि० स० — हिन्दू सभ्यता

प्रथम अध्याय

(वेदों में आत्मवादी अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप)

प्रथम अध्याय

****
****
****
****
*

﴾ वेदों में आत्मवादी अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप ﴿

वैदिक देवता, सृष्टि रचना के हेतु- इन्द्र, सूर्य, अग्नि, वरुण, यम, वायु, देवों में एकत्व, सत् और असत्, मन तथा प्राण, सृष्टि की उत्पत्ति में कारण, मृत्यु तथा पुनर्जन्म, कर्म, माया और अविद्या, परलोक और मोक्ष, पुरुष: क्षर और अक्षर रूप में, हिरण्यगर्भ तथा पुरुष स्कम्भ-विराट रूप, स्कम्भ स्वरूप, आत्मा, ब्रह्म, विश्लेषण ।

प्रथम अध्याय

॥ वेदों में आत्मवादी अवधारणा का प्रारम्भिक स्वरूप ॥

वेद भारतीय मनीषा के आदि स्त्रोत हैं। वैदिक साहित्य एक ऐसा साहित्य है जिससे समस्त भारतीय परम्परा, संस्कृति, आचार- व्यवहार और दर्शन किसी न किसी रूप में प्रभावित होता है। यही कारण है कि किसी विचार सरणि अथवा व्यवहार- विवेचन के प्रारम्भ में ही यह आवश्यक हो जाता है कि पहले इसके आदि स्त्रोत वेदों का अनुशीलन करलिया जाए और वहाँ पर सम्बद्ध विचारसरणि का स्वरूप देखने के पश्चात् आगे विचार किया जाए। इसी दृष्टि से यदि हम सम्बद्ध विषय के सन्दर्भ में भी कुछ विचार करना चाहें तो भी हमें वैदिक साहित्य का पर्याप्त आधार लेना पड़ेगा तथा वहाँ इस चिन्तन क्रम का आदि स्वरूप देखना पड़ेगा।

वैदिक देवता-

सिद्धान्त कौमुदी में दिवु धातु द्युति, क्रीडा, विजगीषा आदि अर्थों में पठित है- दिवु क्रीडाविजगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु।[1] यास्क ने दिवु धातु से निष्पन्न देव शब्द की व्युत्पत्ति इस रूप में की है- देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा यो देवः स देवता।[2] और इस प्रकार से दिवु धातु से निष्पन्न देव शब्द का दीपन, प्रकाशन और द्युस्थानीय देव-ताओं के रूप में अर्थ किया जा सकता है। इसके और विस्तृत अर्थ में यदि जाया जाए तो यह कह सकते हैं कि ज्ञान, प्रकाश, शान्ति, आनन्द और सुख देने वाली सभी

---

1. सि० कौ०, पृ० 218
2. नि० 7/2/15

वस्तुओं को देव संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। और इस प्रकार से देव शब्द का जो अभिप्राय जा सकता है वह यह हो सकता है कि जिनसे प्रकाश, आनन्द शान्ति आदि की प्रतीत होती है और जो द्युस्थानीय शक्ति- सम्पन्न तत्व हैं वे देवता कहे जा सकते हैं।

वेद साहित्य में, जो प्रमुख रूप से देवताओं के स्वरूप का वर्णन करता है और स्तुतियों के द्वारा सम्पूर्ण प्रजा की मंगल कामना करता है देवताओं की उत्पत्ति स्थिति और संख्या आदि पर विचार किया गया है। जैसे कि ऋग्वेद में एक स्थान पर यह कहा गया है कि आदि सृष्टि के प्रारम्भ में अदिति ने देवताओं को जन्म दिया। वे नाम और रूप से रहित देवता नाम और रूप के सहित प्रकट हुए। दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। अदिति ने जिन देवताओं को उत्पन्न किया वे अविनाशी देवता स्तुतियों के योग्य हैं।[1] वहीं पर आगे यह भी कहा गया है कि उस अदिति के आठ पुत्र हुए, जिनमें से सात पुत्रों को लेकर वे स्वर्गलोक में चली गईं। उनके आठवें पुत्र सूर्य आकाशलोक में ही रह गए थे।[2]

वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में इसी ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थान पर यह उल्लेख किया गया है कि देवता सम्भवतः पूर्व में अमर नहीं थे और उन्होंने अमरत्व नहीं प्राप्त किया था किन्तु बाद में अमरत्व प्राप्त किया-येन देवासो अमृतत्वमानशः।[3]

- -

1. ब्रह्मणस्पतिरेता स कर्मार इवाधमत्।
   x x x x
   अदितिह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
   तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः।। ऋक् {10}, पृ० 1596

2. अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि ।
   देवाँ उपप्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ।। वही, पृ० 1597

3. वही, पृ० 1649

इसी प्रकार से अन्य एक स्थान पर यह भाव व्यक्त किया गया है कि देवताओं ने अपने पार्थिव शरीर का परित्याग किया और तब वे मुक्ति-द्वार स्वर्ग पर चढ़े।[1] वेदों के द्युतिमतित्व को ही सिद्ध करती हुई एक विचारधारा यह भी है कि दिवस में उत्पन्न होने के कारण ही देवों का देवत्व सिद्ध होता है।[2]

देवताओं के सम्बन्ध में अन्य वर्णन यह दिखाई देता है कि जिन देवताओं का आख्यान और स्तुतियां की गई हैं उनमें से कुछ को पूर्ववर्ती और कुछ को उत्तरवर्ती देवता बताया गया है।[3] इसी तरह से यह कहा गया है कि कुछ देवता महान् हैं, कुछ देवता अर्भक हैं, कुछ देवता वृद्ध हैं और कुछ देवता युवा हैं।[4] अवस्था का भेद करने के साथ-साथ देवताओं के सम्बन्ध में यह भी वैदिक संकेत है कि देवता एक निश्चित संख्या में ही हैं। अधिकतम सन्दर्भ, संख्या की सूचना के सम्बन्ध में यह बताते हैं कि देवता तेतीस ही हैं पर अन्य कुछ संकेत ऐसे भी हैं जिनमें देवताओं की संख्या तीन हजार तीन सौ उन्तालीस बताई गई।[5] यह अवश्य है कि जहाँ पर देव संख्या तेतीस कही गई है वहाँ विश्वेदवों को सम्बोधित किया गया है इसलिए यह सम्भव है कि यह तेतीस सख्या विश्वेदेवों की कही गई हो।[6]

सृष्टि रचना के हेतु - इन्द्र

वेद साहित्य में इन्द्र का स्तवन प्रमुखता के साथ किया गया है। अकेले ऋग्वेद के ही दो सौ पचास सूक्तों में इन्द्र की महिमा का गान किया गया है।

---

1. येन देवा: स्वरारूरूहु:हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम् । अथर्व० (1), पृ० 144
2. शा० ब्रा० 11/1/6/7
3. ऋक् IV , पृ० 1696
4. नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नमो आशिनेभ्य:।
   यजाम् देवान्यदि शक्नवाम मा ज्यायस: शंसमा वृक्षि देवा:।। ऋक् , पृ० 69
5. त्रीणि शतात्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्। ऋक् IV , पृ० 1646;
   यजु० , पृ० 493
6. इति स्तुतासो असथा रिशादसो ये स्थ त्रयश्च त्रिंशच्च मनोर्देवा यज्ञियास: ।
   x x x x ऋक् III , पृ० 1212
   युवा देवास्त्रय एकादशास: सत्या: सत्यस्य ददृक्षे पुरस्तात् । वही, पृ० 1277

ऋग्वेद के उद्धरण से यह प्राप्त होता है कि इन्द्र अग्नि के जुड़वाँ भाई हैं और अग्नि के पिता प्रचेता हैं। इस तरह से आपाततः इन्द्र के पिता प्रचेता जाने जा सकते हैं।[1]

प्रायः सभी स्थानों पर जहाँ भी इन्द्र का स्तवन किया गया है, उन्हें सर्वसमर्थ, सर्वप्रदाता और शत्रुविजेता के रूप में चित्रित किया गया है। वहाँ यह कहा गया है कि जो शत्रु अपनी अनर्गल वाणी से प्रलाप करते हैं, इन्द्र अपनी ललकार से उन्हें चुप कर देता है। और वह अपनी शक्ति से हजारों शत्रुओं का संहार कर देता है। इसी तरह जैसे पिता अन्न से पुत्र को पुष्ट करता है उसी तरह से इन्द्र सभी मनुष्यों का पोषण करते हैं।[2] इन्द्र ही वे देवता हैं जो सभी प्रकार से हर्षित होकर घृत के समान जल की वृष्टि करते हैं और इन्द्र द्वारा प्रदत्त अन्न की तो कोई उपमा ही नहीं है क्योंकि उनका अन्न सभी प्रकार से श्रेष्ठ और प्रशंसा के योग्य है।[3] एक अन्य स्थान पर यह लिखा गया है कि वे वृत्र का नाश करने वाले हैं; उन्होंने अपनी महिमा से स्वर्ग को सबसे ऊपर स्थिर किया है और वे सभी स्थानों को समान रूप से व्याप्त किए हैं।[4] इन्द्र की अत्यधिक महिमा है क्योंकि उन्हीं से सभी प्राचीन पदार्थों की उत्पत्ति हुई और उनसे ही पाँचों वर्ण पुष्ट हुए। इन्द्र ने ही सभी ज्योतिमय पदार्थों को ज्योति दी है। उषा और नक्षत्रगण उनके ही प्रकाश से प्रकाशित हैं। जो पुष्टता है वह भी इन्द्र के द्वारा ही प्राप्त है।[5] इन्द्र का देवत्व और महनीय रूप इसलिए भी

---

1. ऋक् II , पृ० 942
2. यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरूसहस्त्राशिवा जघान।
   तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः। ऋक् IV, पृ० 1578
3. वही, पृ० 1762-63
4. वही, 1868
5. महत्तन्नाम गुह्यं पुरूस्पृग्येन भूतं जनयो येन भव्यम्।
   प्रत्न जातं ज्योतिर्यदस्य प्रियं प्रियाः समविशन्त पंच।।
   x x x x
   यद्गुष औच्छः प्रथमा विभानामजनयो येन पुष्टस्य पुष्टम्।
   यत्ते जामित्वमवरं परस्या महन्महत्या असुरत्वमेकम्।। ऋक् IV पृ० 1649-50

स्तवन योग्य है क्योंकि वे अपनी महत्ता से आकाश और पृथिवी को बढ़ाते हैं तथा प्रकाशमान सूर्य को प्रकाशित करते हैं। वे ही समस्त लोकों को निर्मित करते हैं और सोम भी उन्हीं से नियमित होते हैं।[1]

इन्द्र के द्वारा अन्न देने तथा जल देने का उल्लेख अधिकतर श्रुतियों में किया गया है। इसके साथ ही वे इस पृथिवी और स्वर्ग को रथ चक्र के समान स्थिर रखते हैं। और जब द्यावापृथिवी इन्द्र के अधीन होते हैं तब विस्तृत अन्तरिक्ष भी उनके बल से डरता है।[2]वहीं पर यह भी उल्लिखित है कि इन्द्र धन के स्वामी हैं और वे नदियों के माध्यम से अन्न की वृद्धि करते हैं। साथ ही वेतमनाशक सूर्य को आकाश में प्रतिष्ठित करते हैं। इनसे प्राचीन और नवीन कार्य करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वे उपासकों को गो, अश्व, गज, अन्न, हिरण्य आदि प्रदान करने वाले हैं और वे अत्यन्त प्राचीन हैं।[3]वे इतने अधिक पराक्रमशील हैं कि आज तक कभी भी पराजित नहीं हुए। वे राक्षसों से जिस लोक, वेद वाणी, वस्तु के लिए युद्ध करते हैं उसे प्राप्त कर ही लेते हैं।[4]

सूर्य

वैदिक देवताओं में सूर्य एक महत्वपूर्ण देवता के रूप में स्तुत हैं। उनका स्मरण करते हुए ऋग्वैदिक ऋषि कहते हैं कि सूर्य अत्यन्त तेजस्वी और अत्यधिक प्रकाश-

---

1• इन्द्रो महना रोदसी पप्रथच्छस्व इन्द्रः सू र्य मरोचयत् ।
इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ।। ऋक् III, पृ० ।124

2• यो अक्षेणेव चक्रियौ शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुत द्याम् । साम, पृ० ।17,126

3• अथर्व० II, पृ० 943 ; 948

4• अथर्व० I , पृ० 372

वान् ग्रह हैं। वे सबके उत्पत्तिकर्ता तथा प्रजापति के तेज से परम दीप्तमान् हैं। वे मित्रावरूण के नेत्ररूप कहे गए हैं और कर्म के प्रेरक के रूप प्रतिष्ठित हैं।[1] इसी तरह से एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि सूर्य मित्रावरूण के नेत्र तो हैं ही वे जब उदित होते हैं तो सभी को ढँक लेते हैं और वे स्थावर तथा जंगम के प्राणरूप हैं। इस प्रकार से वे सम्पूर्ण जगत् की आत्मा हैं।[2]

सूर्य जिनके अनेक नामों में एक नाम सविता भी है, सुवर्ण कवच धारण करते हैं और अपने तेज से त्रैलाक्य को परिपूर्ण करते हैं। वे नित्यप्रति संसार को कार्य करने के लिए प्रेरित करते हैं और सृष्टि के निर्माण के लिए अपनी भुजा फैलाते हैं। वे प्रकाशवान सविता देव लोकत्रय में व्याप्त हैं और अग्नि, वायु आदित्य तथा पृथिवी को व्याप्त किए हुए हैं।[3]

सूर्य के तेज का वर्णन तो हर एक स्थान पर किया ही गया है साथ में यह भी वर्णन किया गया है कि वे ज्ञान के धारक हैं और अपने आलोक से हमारे द्वारा जो पाप किया जाता है सवितादेव उस पाप का प्रक्षालन करने का सामर्थ्य रखते हैं। वे सभी को धन तो देते हैं। किन्तु उसका यथोचित विभाग करके धन देते हैं।

- -

1. उद्वेति सुभगो विश्वचक्षा: साधारण: सूर्यो मानुषाणाम्।

x x x x

उद्वेति प्रसवीता जनानां महान् केतुरर्णव: सूर्यस्य ।
समान चक्रं पर्याविव।त्सन्यदेशतो वहति धूर्षुयुक्त: ।। ऋक् III , पृ0 1060

2. चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरूणस्याग्ने: ।
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्ष सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।। ऋक् I ,पृ0 224

3. आप्रारजांसि दिव्यानि पार्थिव लोकं देव: कृणुते स्वाय धर्मणे ।

x x x x

त्रिरन्तरिक्षं सविता महत्वनात्री रंजासि परिभूस्त्रीणि रोचना ।।
ऋक् II , पृ0 677

इस प्रकार उनके भक्त यथोचित धन प्राप्त कर लेते हैं। वे मनुष्यों द्वारा किए जाने वाले कर्मों के द्रष्टा भी है और कर्म प्रेरक भी ।[1]

पृथिवी को सूर्य के चारों ओर घूमने का वर्णन करके भी सूर्य के महत्व का अंकन किया गया है और यह कहा गया पृथिवी घूमती हुई मातृभूत उस सूर्य को देखती है। इस प्रकार से वह सूर्य आकाश और पृथिवी के बीच आपादमस्तक चमकता रहता है। जब सूर्य रश्मियों से प्रदीप्त रहता है तो ऋक्, यजु, साम की स्तुतियाँ उसे प्राप्त होती हैं।[2]

अन्य स्थानों की अपेक्षा अथर्ववेद में सूर्य की महिमा का कथन अत्यधिक महत्व देकर किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि सत्, चित् सुखात्मक संसार का कारणभूत ईश्वर सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सविता के रूप में प्रकट हुआ। जो पूर्व दिशा में उदय होने वाला तेजवान् सूर्य है वही सत् और असत् के उत्पत्ति के स्थान को प्रकट करने वाला है। इसी प्रकार से यह भी उल्लेख है कि वह परब्रह्म सूर्य रूप से प्रथम उत्पन्न हुए और आकाश के कारण रूप तथा पृथिवी के सत्य रूप से स्थित हो द्यावापृथिवी में विनाशहीनता को स्थापित करते हैं।[3]

---

1. तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ।
   विश्वानि देव सवितुर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव ।
   विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम् । यजु0, पृ0 476
2. आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ।
   अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती। व्यख्यन्महिषो दिवम्।।
   त्रिंशद्धाम वि राजति वाक्पतंगाय धीयते। प्रति वस्तोरह द्युभिः ।।साम0,पृ0326
3. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तात् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
   सबुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ।।
   स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् ।
   महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवंचरजः।।अथर्व0 1, पृ0 129

इन सूर्य को न केवल सविता के रूप में स्तुत किया गया है अपितु इनके अन्य अनेक नामों को भी गिना गया है। जैसे यह कहा गया है कि हे! विषासहि, सहमान, सासहान, सहीमान, तेज के विजेता, स्वर्ग और गो के विजेता अपने-अपने कर्मों में सभी को प्रेरित करने वाले तुम उदित होओ।[1] और इसे अन्य देवों की अपेक्षा सूर्य को अधिक महत्व के साथ प्रार्थित किया गया है।

अग्नि:-

वेद परम्परा अधिकतम रूप से यज्ञिय परम्परा है और यज्ञों में सहज रूप से अग्नि का महत्व रहा है।[2] इसीलिए यज्ञ का हव्य वहन करने वाले यज्ञाग्नि की स्तुति भी पर्याप्त मात्रा में की गई है और प्राय: अग्नि की स्तुति में उन्हीं विशिष्टताओं का अंकन किया गया है जिनका प्रयोग अन्य देवताओं के लिए होता रहा है। ऋग्वेद यह कहता है कि हे अग्नि! तुम मनुष्यों में कर्म की रक्षा करने वाले हो, इसलिए तुम यज्ञों में स्तुति करने के योग्य हो। तुम शत्रु को पराजित करने वाले और यज्ञों में बढ़ने वाले हो।[3] अग्नि की इसी महत्ता को स्मरण करते हुए मन्त्रदृष्टा ऋषि यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि अग्नि! तुम अमरत्व प्राप्त हो, सुन्दर तेज-वाले हो, मैं मरणधर्मा इसलिए तुम्हारी उपासना करता हूँ जिससे मैं भी तुम्हारे सदृश अमरत्व प्राप्त कर सकूँ।[4]

---

1. विषसहिं सहमानं सासहानं सहीमांसम्।
   सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम्।।
   उदिह्य दिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि। अथर्व० ^{V}, पृ० 780 -81।
2. शा० ब्रा० सा० अ०, पृ० 93 ; यजु० पृ० 198
3. ऋक्० VII , पृ० 1153
4. यदग्ने मर्त्यस्त्व स्यामहं मित्रमहो अमर्त्य:।
   यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्य: सहस: सुनवहुत ।। वही, 1177

एक अन्य स्थान पर अग्नि को चन्द्रमा के समान आह्लादकारक, चतुर, श्येन के समान वेगवान्, सत्यरूप यज्ञ से सम्पन्न, जठराग्नि रूप से शरीरों को पुष्ट करने वाले, अपनी महिमा से महान् अटल पद पर स्थित कहा गया है। वह अग्नि स्वर्ग के मस्तक के समान, पृथिवी की नाभि के समान और जलों तथा ओषधियों के सार हो।[1]

अग्नि केवल यज्ञिय हव्य को प्राप्त करने की साधन मात्र नहीं है अपितु वह सभी प्रकार के धनों की स्वामी है। इस लिए प्रार्थना करता हुआ ऋषि कहते हैं कि तुम्हारी स्तुति करते हुए हम सुन्दर धन को प्राप्त करें।[2]

अथर्ववेद में अग्नि को चार नामों से कहा गया है- क्रव्याद् अग्नि, अक्रव्याद् अग्नि, जातवेद अग्नि तथा गार्हपत्य अग्नि। वहाँ पर क्रव्याद अग्नि से कहा गया है कि गायों में जो यक्ष्मा है, मनुष्यों में जो यक्ष्मा है तुम उसके साथ ही जाओ। अक्रव्याद् अग्नि से यह कहा गया है कि तुम हमारे वैरियों का भक्षण करो। जातवेद अग्नि से यह प्रार्थना है कि यहाँ रहकर देवताओं के लिए हवि वहन करे। गार्हपत्य अग्नि पितरों के निमित्त है इसलिए वह उनके लोक में स्थित होवे।[3]

यद्यपि बाद में तीन अग्नियां गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि उल्लिखित हैं।[4]

---

1. इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुना भुरण्युः ।
   x x x x
   दिवो मूर्धासि पृथिव्या नाभिरूपमोषधीनाम्। विश्वायुः शर्म ....यजु0,पृ0 31।
2. ऋत वोचे नमसा पृच्छ्यमानस्तवाशसा जातवेदो यदीम् ।
   त्वमस्य क्षयसि यद्ध विश्व दिवि यद्द्रविण तत्पृथिव्याम् ।। ऋक्0 II, पृ0 587
3. अथर्व0 II , पृ0 645, 646
4. श0 ब्रा0 2/3/2/2-6

इसी के क्रम में गार्हपत्य अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि तुम्हारे द्वारा भस्म किया जाता हुआ यजमान देवताओं के प्रादुर्भाव को देखे। मरणधर्मी मनुष्य तुम्हारी कृपा से उर्वशी आदि अप्सराओं को प्राप्त करने वाले होते हैं। हम सुन्दर कर्म करने वाले होवें और देवता हमारे उन कर्मों की रक्षा करें। हम यज्ञादि के अवसर पर विस्तृत स्तोत्रों का उच्चारण करें।[1]

अग्नि के वर्णन में वेद जिन भावों को स्वर देते हैं उसके अनुरूप अग्नि तत्व जल में है जंगल में है, औषधियों के फल रूप में है, प्राणियों में वैश्वानर रूपमें है, अन्तरिक्ष में विद्युतरूप में है। इसलिए अग्नि के इस विस्तृत रूप के कारण ऋषि प्रार्थना करते हैं कि हम पर जो देवता क्रोधित होवें, तुम उनके क्रोध को शान्त करो।[2]

अथर्ववेद यह भी कहता है कि सृष्टि से पूर्व रचे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अथर्वा रूप ईश्वर ने आहुति दी थी और अग्नि ने उसे देवताओं को पहुँचाने की इच्छा की थी।[3]

अग्नि का एक महत्व यह भी है कि अग्नि की तीक्ष्णता से ही ब्राह्मण का तेज तीक्ष्ण होता है। इसकी कृपा से ही सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होती हैं। इस तेजशील अग्नि की कृपा से ही प्राप्त तेज के कारण जो जिसका

- -

1. वही, पृ0 816

2. यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य औषधीषु पशुष्वप्सन्त: ।
   अग्ने सर्वास्तन्व: सरभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्त्र: ।।
   अथर्व (II), पृ0 844; यजु0, पृ0 184

3. वही, पृ0 845

पुरोहित है उसका क्षात्रधर्म भी विजयशील हो जाता है।[1] इसी प्रकार यह प्रार्थना की गई है कि अग्निदेव ! हमारे लिए रोग रहित, बलदेने वाला अन्न दो। अन्न-देने के पश्चात् हमें सब प्रकार से बढ़ाओ और हमारे मनुष्यों तथा पशुओं को भी अन्न दो। यही अग्नि का वैदिक स्वरूप है जिससे उसकी हव्यवाहकता, सर्वव्यापकता तथा सर्वसमर्थता सिद्ध होती है। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि अग्नि जीव को परलोक ले जाने वाली और अमरत्व प्रदान करने वाली है।

वरूण

इन्द्र देवता की ही तरह वेदों में वरूण की महिमा का भी गान किया गया है। इन्द्र के साथ मिलाकर वरूण की स्तुति की गई है और कहा गया है कि हे इन्द्र और वरूण! तुम हमें उपासना करने वाले को श्रेष्ठ घर दो। जो यज्ञकर्ता हैं उनके शत्रु संग्राम में नष्ट हो जावें। हे इन्द्र और वरूण! तुम श्रेष्ठ धन वाले हो और तुममे से एक शोभाशील है और एक राजा है। तुमने अपने बल से जल का मार्ग प्रशस्त किया है और सूर्य को आकाश में भेजा है। तुम दिव्य और पार्थिव धनों के स्वामी हो तथा आवाहन के योग्य हो। तुमने सब प्राणियों की रचना की है। इन्द्र मरूद्-गण के साथ तेजोमय अलंकार धारण करते हैं और वरूण की सब सेवा करते हैं।[2]

---

1. सं शितं मे ब्रह्म सं शितं वीर्य बलम् । सं शितं क्षत्र जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहित: । यजु0 , पृ0 17।

2. इन्द्रावरूणा यूयमध्वराय नो विशे जनाय महि शर्म यच्छतम् ।
x x x x
इन्द्रावरूणा यदिमानि चक्रथुर्विश्वा जातानि भुवनस्य यज्मना ।।
ऋक् III , पृ0 1082

जहाँ इन्द्र से पृथक् करके वरूण की महिमा गाई गई है, वहाँ पर यह कहा गया है कि वरूण ने ही सूर्य को अन्तरिक्ष में मार्ग दिया और इन्होंने ही नदियों को जल दिया। वरूण ही संसार में आत्मा रूप वायु और जल को संसार में सभी ओर प्रेषित करते हैं। जैसे तृण खाकर पशु अन्न को ढोता है उसी तरह से वायु अन्न को वहन करता है। इन वरूण के अन्दर तीन स्वर्ग हैं इसमें तीन प्रकार की भूमियाँ और छह प्रकार की दिशाएँ हैं। वरूण ने ही सूर्य को स्वर्ण के झूले के समान तेज से रचा है। वरूण ने सूर्य के समान ही समुद्र की रचना की । वे मृग के समान् तेज, जल की रचना करने वाले और दु:ख से पार जाने वाले सभी के स्वामी हैं।[1]

वरूण के वर्णन को जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है उससे यह प्रतीत होता है कि जैसे वे जल के देवता हों और उनका निवास जल में हो। इसी दृष्टि से उनके निमित्त प्रार्थना में यह कहा गया है कि हे वरूण! जलों में जो असाधारण सुवर्णमय गृह है वह अन्य किसी को नहीं मिल सकता। वे वरूण हममें स्थापित अपने घरों को छोड़ दें। इसी तरह से यह भी वर्णन है कि वरूण हमारे शरीर में स्थित सभी रोगों से हमें मुक्त कर देवें । हमें पाप से छुड़ावें और अपने द्वारा कहे शाप-वचनों से भी मुक्त कर देवें।[2]

वरूण को पाश-मोचक देवता के रूप में भी प्रार्थित किया है। इन पाशों से अभिप्राय सम्भवत: मृत्यु-पाश से अथवा पाप-पाश से हो सकता है। क्योंकि कहा

---

1. रदत्पथो वरूण: सूर्याय .... ।

x x x

तिस्रो द्यावो निहिता अन्तरस्मिन्तिस्त्रो भूमीरूपरा: षड्विधाना: ।

वही, 1088-89

2. अप्सु ते राजन् वरूण गृहो हिरण्ययो मिथ:।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ।। अथर्व I , पृ0 399

यह गया है कि हे वरुण! हमें सब पापों से मुक्त करो। जो तुम्हारे उत्तम और अधम पाश हैं, उनसे छुड़ाओ। दुःस्वप्नयुक्त पापों से हमें बचाओ। इसके पश्चात् हम पुण्य के भाजन बनें।[1]

देवता वरुण की प्रार्थना में अनेक वस्तुओं की कामना की गई है। जैसे यह कहा गया है कि हे वरुण! मैं मिट्टी का घर न प्राप्त करूँ। तुम मेरे ऊपर दया करो। समुद्र में रहकर मैं प्यासा हूँ। मुझे कृपापूर्वक सुखी करो। मुझसे अज्ञानवश जो कर्म हुआ है, उससे मुक्त करो।[2]

इस प्रकार से जहाँ वरुण इन्द्र के साथ प्रार्थित हैं वहीं वे जीवनरूप जल के प्रदाता और सभी पाशों से मुक्ति देने वाले भी हैं। वे जल को सर्वत्र भेजते हैं और जीवों के जन्म के प्रदाता तथा पाप-नाशक देवता हैं।

यम

यम देवता मृत्यु के देवता के रूप में वर्णित हैं और पितरों से यही अपेक्षा की गई है कि वे पितरेश्वर की सेवा करें तथा उन्हें हव्यादि से तृप्त करें। जो श्रेष्ठ कर्म करते हैं वे यम का सुख-सम्पन्न लोक प्राप्त करते हैं और जो उनके लोक जाते हैं उनका मार्ग सरल करते हैं। क्योंकि सभी प्राणी उनके पास पहुँचते हैं। यम के मार्ग को कोई भी रोक नहीं सका है। हमारे सभी पूर्वज उन्हीं के मार्ग से जाते हैं। यम

---

1. प्रास्मत् पाशान् वरुणः मुंच सर्वान् यः उत्तमा अधमा वारुणा ये ।
वही, पृ० 399

2. यो षु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम् ।
x x x x
अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारम् ।। ऋक् VII , पृ० 109।

के पिता विवस्वान बताए गए हैं और स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि पितर जहाँ जाते हैं उसलोक को वे अपने कर्म से प्राप्त करते हैं।[1]

यम की इस महिमा वर्णन के क्रम में यह भी बताया गया है कि वे गृह- रक्षक, चार नेत्रवाले, बलवान् श्वान् मृत व्यक्ति को कल्याण का भागी बनावें। ये दो हैं और प्राणी के प्राण लेकर ही सन्तुष्ट होते हैं।[2] इस रूप में यमदूतों की किम्व-दन्ती आज भी समाज में प्रचलित देखी जा सकती है। यम के लिए जो हव्य दिया जाता है उसे अग्नि यज्ञ में लेकर उन तक पहुँचाती है। वे यज्ञ के द्वारा स्तवन योग्य तथा सम्पूर्ण जगत् में घूमने वाले एवम् त्रिष्टुप् तथा गायत्री छन्दों से स्तुति करने योग्य हैं।

अथर्ववेद में यम-यमी सम्बाद एक विशेष प्रकार के सामाजिक जीवन की सात्विकता को प्रकट करता है और यम को इस रूप में सत्य वाचक देवता के रूप स्थापित करता है। यमी एक बहिन के रूप में है और यम से पतित्व की कामना करती है। किन्तु इसके उत्तर में यम जो कुछ कहते हैं वह मार्यादा की श्रेष्ठ दृष्टि का निदर्शन है। यमी के तर्क देने पर यम कहते हैं कि असत्य कथन को हम सत्य कथन

- -

1. परेयिववयं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानाम्।
   वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषहुवस्य ।।
   विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञ बर्हिष्या निषद्य।
   अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्। ऋक् ० XV , पृ० 1555-56
2. यौ तौ श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
   त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता । वही, पृ० 1556

के रूप में कैसे वह सकते हैं। जलधारक सूर्य अपनी भार्या सहित अन्तरिक्ष में स्थित है। यह कार्य एतदर्थ करणीय नहीं है और अन्त में यम निश्चयात्मक स्वर में कहते हैं कि यह तुम्हारा कथन धर्म भ्रष्ट करने वाला है जिसे पूर्ण नहीं किया जा सकता है।[1]

यज्ञों में प्रस्तुत किये जाने वाले चरू के प्रापक के रूप में भी यम को स्मरण किया गया है और यह चाहा गया है कि वे हमारा दीर्घ जीवन करें, और हम हवि से उन्हें सन्तुष्ट करें।[2]

इसी प्रकार से जब हवि अन्य देवताओं और पितरों को प्रदान की जाती है तो यम को भी नमस्कार युक्त हवि अर्पित की जाती है। ऋषि यज्ञावसर पर अपने द्वारा दी जाने वाली हवि के लिए कहते हैं कि हे पितरों के अधिपति यम! स्वधा एवं नमस्कार युक्त यह हवि तुमको प्राप्त होवे।[3] इस रूप में मुख्यरूप से मृत्यु और पितरों के नियन्ता देवता के रूप में यम का महत्व अंकित है।

वायु :-

अयं वै वायु मातरिश्वा योऽयं पवते[1] - इस व्याख्या अर्थात् यह अन्तरिक्ष में बहती है, के अनुसार वायु अन्तरिक्ष में बहती है और सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को पवित्र भी करती है। वेद में वायु के सम्बंध में जो भी वर्णन प्राप्त है, वह

---

1. न यत पुरा चक्रमा कद्ध नूनमृत वदन्तो अनृतं रपेम ।
x x x x
न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पशा इह ये चरन्ति।। अथर्व॰।।,
पृ0 789

2. तमर्चत् विश्वामित्रा हविर्भिः स को यमः प्रतरं जीव से धात्। वही, पृ0837

3. यमाय पितृमते स्वधा नमः । वही, पृ0 840

4. शा0 क्षा0 6/4/3/4

इसी ओर संकेत करता है और वहाँ पर यह कहा गया है कि हे वायु! सोम पान के लिए वेगवान् तुम्हारे अश्व तुम्हें प्रथम यहाँ लावे। हमारी स्तुति रूप वाणी तुम्हारे गुणों को जानती है, वह तुम्हारे अनुकूल होवें। चलने के लिए लाल रंग के घोड़ों को वायु अपने रथ में जोड़ते हैं। वे रथ की धुरी में सुन्दरे द्रुतगामी अश्वों को जोड़कर पृथिवी को जगातें है।[1]

वायु का स्तवन भी इस रूप में विशेष प्रकार से किया गया है, जिस रूप में वे सोमपायी देवता की तरह प्रतिष्ठित हैं। इन्द्र का साथ वायु की प्रार्थना करते हुये इसीलिए कहा गया है कि हे इन्द्र और वायु तुम इस मधुर सोम की आहुति ग्रहण करने के लिए आओ।[2]

एक अन्य स्थान पर वायु को धन देने वाले देवता के रूप में भी स्तुत किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि जिन वायु को आकाश-पृथिवी ने धन के लिए प्रकट किया वे वायु अपने अश्वों द्वारा सेवा प्राप्त करते हैं। वायु उज्जवल वर्ण वाले हैं और उपासक श्रेष्ठ अपत्य-प्राप्ति के लिए यज्ञरूप कार्यों को करते हैं।[3] इस प्रकार से वायु को सोमपायी, धनदाता और अपत्यप्रदाता के रूप में वेदों में प्रतिष्ठित किया गया है।

---

1. आ त्वा जुवो रारहाणा अभि प्रयो वायो वहन्त्विह पूर्वपीतये सोमस्य पूर्वपीतये।

x x x x x

वायुर्युङ्क्ते रोहिता वायुरुणा वायू रथे अजिरा ....।

ऋक् I, पृ0 268; यजु0, पृ0 445

2. वही, पृ0 27।

3. ऋक् III, पृ0 1193

देवो में एकत्व :-

यद्यपि वेदों में स्पष्टरूप से कोई एक विचाराधारा व्यक्त नहीं होती है किन्तु देवों के वैविध्यज्ञान में उनका एकत्व और एक सर्वोच्च सत्ता का संकेत किया गया अवश्य प्रतीत होता है। जैसे वेद में इन्द्र की महत्ता एक प्रकार से सर्वोच्च रूप में कही गई हैं और उनका स्तवन भी अधिक रूप में किया गया है। उनकी स्तुति करते समय यह कहा गया है कि इन्द्र प्रति-प्रति रूप में होते हैं । इन इन्द्र के रथ में सहस्त्र अश्व योजित होते हैं।[1] इसी प्रकार से ऋग्वेद की समाप्ति पर यह कहा गया है कि तब से ऋत और सत्य की उत्पत्ति हुई। उस धाता (ईश्वर) ने सूर्य, चन्द्र, स्वर्ग ,लोक ,पृथिवी और अन्तरिक्ष की रचना की।[2] एक अन्य स्थान पर इसी प्रकार का एक और भाव प्रतिपादित है जिसमें विश्वेदेवा की स्तुति करते हुए अन्त में यह कह दिया गया है कि सभी देवताओं का पराक्रम एक सा है।[3] और इस रूप में बहुत में एकत्व का उपसंहार किया गया है।

---

1. रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय ।
   इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश।।
   ऋक् ।। ,पृ0 927

2. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।

   x x x

   सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
   दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।। ऋक् । , पृ0 1898

3. पुरूण्यानि रण्यवाचो भरन्ते महद्देवानामसुरत्वमेकम्। ऋक् ।।, पृ0 551

यजुर्वेद के पुरूषसूक्त्त में तो पुरूष रूप सर्वेश्वर का ऐसा वर्णन किया गया है जिसमें यह विवेचित है कि वह पुरूष सहस्त्रों शिर वाला, सहस्त्रों चरण वाला, सहस्त्रों नेत्रवाला ,सहस्त्रों पैरों वाला है और सम्पूर्ण पंचभूतों को व्याप्त करके दश अंगुलि प्रमाण से अव-स्थित है, यह बर्तमान विश्व, व्यतीत हुआ विश्व और भविष्यत् कालीन विश्व सब परम पुरूष रूप ईश्वर ही है। जो अन्न रूप फल विश्व को प्राप्त होता है, उस अन्न-अमृतत्व का स्वामी परम पुरूष रूप ईश्वर ही है।[1] इस रूप में सम्पूर्ण पुरूष सूक्त में उस एक तत्व ईश्वर की सम्पूर्ण शक्तियों का ही वर्णन किया गया है।

ईश्वर की इस एकरूपता का और भी स्पष्ट संकेत तब प्राप्त होता है जब यह कहा जाता है कि अग्नि वही है, आदित्य वही है, वायु, चन्द्रमा और शुक्र वही है, जल में व्याप्त प्रजापति वही है। वह प्रसिद्ध देव सब दिशाओं में व्याप्त है।[2] और इस रूपमेंस्पष्ट है कि अनेक देवों की स्तुति करने वाले वेदों में किसी न किसी रूप में एक देव के संकेत हैं, भले ही वे बीज रूप में ही होवें।

अन्य स्थानों पर भी संकेत रूप में ही कुछ ऐसे शब्द व्यवहृत हैं जो किसी एक सर्वोच्च शक्ति को संकेतित करते हैं। जैसे इन्द्र की स्तुति में उससे

---

1. सहस्त्रशीर्षा पुरूषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
   स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठत् दशांगुलम् ।।
   पुरूष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
   उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।। यजु0, पृ0 483

2. तदेवाग्निस्तदादित्यतद्वायुस्तद्बु चन्द्रमा।
   तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ।।
   x x x x
   एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः............। वही ,488

"अभयम् ज्योति" की अपेक्षा की गई है।[1] इससे यह प्रतीति होती है कि वैदिक ऋषि किसी अभय ज्योति की कल्पना करते हैं। इसी प्रकार से अग्नि की स्तुति में भी "परम व्योमन्" शब्द के प्रयोग में परम शब्द का प्रयोग सर्वोच्च और अव्यक्त सत्ता के लिए किया गया प्रतीत होता है।[2] इसी क्रम में ही जब वैदिक ऋषि विष्णु की प्रार्थना करते हैं तो वे यह कामना करते हैं कि हम विष्णु के परम पद का साक्षात्कार करें।[3] यह "परम पद" एक ऐसे विशिष्ट स्थान अथवा शक्ति को संकेतित करता हुआ प्रतीत होता है जो एक और सर्वोच्च हो सकता है।

इन सभी संकेतों से यह धारणा व्यक्त करना स्वाभाविक है, जैसा कि आचार्य बलदेव उपाध्याय कहते हैं कि बहुदेवताबाद के बहुत काल बाद एक देववाद का जन्म हुआ है और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद ने स्थान ग्रहण किया। इस सर्वेश्वरवाद की भावना का सूचक पुरुषसूक्त है जिसमें एक पुरुष ईश्वर की ही सम्पूर्ण शक्तियों का महत्व और उनके विस्तार का वर्णन किया गया है।[4] ऋग्वैदिक काल के अंतिम चरण में अनेक देवतावाद एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद के चिन्ह प्रकट करने लगा था- ऐसा अभिमत मैक्डानल ने भी प्रकट किया है।[5]

सत् और असत् :

वेद जब सृष्टि के प्रारम्भ का वर्णन करता है तो असत् और सत् की चर्चा करता है। देवताओं के प्राकट्य के पूर्व जब वे नाम और रूप से रहित थे,

---

1. ऋक् 1, पृ0 414
2. वही, पृ0 285
3. वही, पृ0 59
4. भा0द0{ब0}, पृ0 54
5. वै0मा0 पृ0 5

और बाद में नाम और रूप सहित हुए, तब असत् से सत् की उत्पत्ति हुई थी फिर दिशायें और वृक्ष तथा तत्पश्चात् पृथिवी की उत्पत्ति का क्रम रहा था।[1]

इसी रूप में वेद के प्रसिद्ध सूक्त में, जिसे नासदीय सूक्त के रूप में जाना जाता है, इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित किये गये हैं कि यहाँ प्रारम्भ में कौन था? ब्रह्माण्ड कहाँ था , गम्भीर जल कहाँ था, रात्रि और दिवस भी कैसे थे क्योंकि प्रारम्भ में न तो असत् था और न सत् था। सृष्टि रचना के पूर्व केवल तम ही तम था । वही तम् सभी कुछ अपने में आवृत किये हुये था।[2]

वेदों में सत् और असत् के प्रयोग के साथ-साथ ऋत और सत्य के प्रयोग भी किये गये हैं किन्तु वहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि ये शब्द सत् और असत् से किस रूप में सम्बन्धित हैं।

मन तथा प्राण:-

वेद जहाँ एक ओर विभिन्न देवताओं की स्तुतियों तथा उनके वैभव और सामर्थ्य के वर्णन में अपनी बुद्धि का कौशल प्रदर्शित करते हैं वहीं वे मन और प्राण जैसे सूक्ष्म तत्वों पर भी पर्याप्त रूप रूप से विचार करते हैं। जैसे

---

1. ब्रह्मणस्पतिरेता स कर्मार इवाधमत् ।
   देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।।
   देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
   तदाशां अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि।। ऋक् । ,पृ0 1696
2. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
   x x x x
   न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि..................।
   x x x x
   तम आसीत् तमसा गूढमग्रे..................। वही,पृ0 1836

जैसे यजुर्वेद में तो मन के लिए शिवसंकल्प धारण करने का आह्वान किया गया है और मनुष्य का मन कितना अधिक शक्तिशाली है- इसका भी सांगोपांग वर्णन किया गया है। मन एक ऐसा तत्व है जो एक इन्द्रिय होता हुआ भी ज्योति कारकों में प्रमुख ज्योति है। वह इतना अधिक स्वतंत्र और शक्ति सम्पन्न है कि जब मनुष्य उस पर नियन्त्रण करना चाहता है तो वह दूर चला जाता है और जब मनुष्य उससे अपना ध्यान हटा लेता है तो वह फिर अपनी इच्छा से मनुष्य के पास चला आता है।

मन कर्म करने वाला, धीर और मेधावी है । ज्ञान में अपूर्व तथा सबसे पूज्य है। मन की शक्ति का अनुभव इससे किया जा सकता है कि उसके बिना कोई भी कार्य करना सम्भव नहीं है। यह मन की शक्ति का एक और विशिष्ट रूप है कि वह भूत, बर्तमान तथा भविष्य के सभी पदार्थ-ज्ञान को ग्रहण कर लेता है । इसका अभिप्राय यह है कि मन त्रिकाल में रहने वाला और अविनाशी है। ऋक् ,यजु, साम और अथर्व इस मन में ही आधृत रहते हैं।[1]

- -

1. यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवेति ।
दूरगमं ज्योतिषां ज्योति रेकम् ।......................।
x x x x
यस्मिन्नृच: साम यजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवारा:।
यस्मिश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मन: शिवसंकल्पमस्तु ।

यजु; ,पृ0 513

मन की शक्ति केवल इतनी ही नहीं है अपितु वह मनुष्य का नियंत्रण इसी तरह से करता है जैसे अश्व की लगामों से रथवाहक,अश्व का नियंत्रण करता है।[1]

इन सन्दर्भों के अतिरिक्त भी मन के लिए यह कहा गया है कि हम अपने मन के द्वारा ही यज्ञ कर्म में प्रवृत्त होते हैं।[2] अथवा यह कहा गया है कि दु:स्वप्न जो हमारे मन पर आकर अधिकार कर लेते हैं, वे दूर हटें और हमारे मन को मुक्त करें।[3] इसी तरह यह भी उल्लेख है कि यदि पत्नी को प्राप्त करना है तो उसके मन पर अधिकार करना होगा।[4]

प्राण तत्व का प्रतिपादन करते हुए वेद में, ऐसा प्रतीत होता है कि उसे पंच वायुओं में से एक वायु के रूप में कल्पित किया गया है और कहा गया है कि प्राण और अपान मेरा पात मत करो अर्थात् मुझे मृत्यु से दूर करो।[5] और इसी दृष्टि से प्राण को कहा गया है कि जिस प्रकार आकाश चिरजीवी है, उसी प्रकार तू भी चिरजीवी और मरण की शंका से दूर रह,जिस तरह सूर्य और चन्द्रमरण की शंका से रहित होते हैं वैसे ही तू भी मरण शंका से रहित हो और तेरा मरण न होवें। जिस तरह से भूत भविष्य कभी नहीं मरते इस प्रकार तू भी चिरकाल तक जीवित रह।

---

1. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते इषुभि: वाजिन इव।
 हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे...............।। यजु0 ,पृ0 514

2, वही ,पृ0 47

3. ऋक् I ,पृ0 1878

4. अथर्व I, पृ0 75

5. वही ,पृ0 61

6. यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिष्यत:। एवं मे प्राणा मा विभे:।

x x x

यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिष्यत:। एवं मे प्राणा मा विभे: ।।
 वही , पृ0 60

सृष्टि की उत्पत्ति में कारण :-

सृष्टि जैसी रहस्यात्मक प्रक्रिया के सम्बंध में वेद साहित्य में अनेक प्रकार के विचार पृथक्-पृथक् ढंग से व्यक्त किये गये हैं। उदाहरण के रूप में सबसे पहले यह कहा गया कि पूर्व में न सत् था और न असत् था। न व्योम था और न पृथिवी। न सप्तलोक ही था, जो बाद में आकाश में अवस्थित जाना जाता है। तब, प्रश्न उत्पन्न होता है कि कौन यहाँ था? ब्रह्माण्ड कहाँ था और गम्भीर जल किस स्थिति में था, वैसे तो यह सृष्टि जो उत्पन्न करते हैं और जो सृष्टि के स्वामी हैं, यह नहीं जानते हैं कि इसका रचयिता कौन है? किन्तु ऋषि यह भी देखते हैं कि सृष्टि रचना के पूर्व अन्धकार ने अन्धकार को आवृत्त किया हुआ था। सब कुछ अज्ञात था। सब ओर जल ही जल था। वह ब्रह्म अविद्यमान पदार्थ से ढका था और तप के प्रभाव से विद्यमान था।[1]

और इस लम्बे उदाहरण तथा विवरण से यह तो स्पष्ट होता है कि वह परम तत्व ब्रह्म सृष्टि के आदि में तप के प्रभाव में प्रतिष्ठित था, किन्तु साथ ही में यह भी कह दिया गया है कि इस सृष्टि के आदि कारण के विषय में और कोई तो जानता ही क्या है, वह भी जानता है अथवा नहीं? और जो सृष्टि का आदि कारण है वह इसे धारण करता है, अथवा नहीं?[2]

---

1. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत्।

x x x

किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ।

x x x

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद।

x x x

तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमाइदम् ।। ऋ० IV , 1836

2. इयं विसृष्टिर्यत आबभूव तदि वा दधे यदि वा न दधे ।। वही, पृ0 1836

ऋग्वेद में और यजुर्वेद में जिस विराट पुरुष का स्तवन किया गया है उसे भी इस रूप में चित्रित किया गया है जैसे वह सृष्टि की उत्पत्ति का आदि कारण होवे। वहाँ पर यह कहा गया है कि यह पुरुष अपने दस अंगुलि के परिमाण वाला होकर भी पूरे विश्व को व्याप्त किये हुए है। आदि पुरुष से विराट की उत्पत्ति हुई और प्राणभूत पुरुष इस सृष्टि में आया। तब उस पुरुष से वन्य पशु, ग्राम्य पशुओं की सृष्टि हुई। उस पुरुष से ही अश्व, गाय, भेड़, बकरी आदि की भी उत्पत्ति हुई।[1]

तत्पश्चात् उस पुरुष से ही चतुर्वर्ण की उत्पत्ति का तथा चन्द्रमा, सूर्य, वायु, प्राण, स्वर्ग, पृथिवी, दिशाए, ऋतुएँ आदि उत्पन्न हुई- ऐसा वर्णन किया गया है और एक प्रकार से इस सम्पूर्ण सृष्टि का रचनाकार उसे स्वीकार किया गया है। और अन्त में उपसंहार करते हुए यह निरूपित किया गया है कि वह यद्यपि अजन्मा है फिर भी वह अनेक रूपों में जन्म लेकर इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ। इसीलिए ज्ञानी जन इस सम्पूर्ण भुवन को उसी में स्थित देखते हैं।[2] पुरुष द्वारा उत्पन्न सृष्टि की इस प्रक्रिया में जिस क्रम से और विस्तार से वर्णन किया गया है, उससे सम्पूर्ण सृष्टि के सर्जक के रूप में पुरुष प्रतिष्ठित हुए हैं।

---

1. स भूमिं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम्।

x x x

पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्याग्राम्याश्च ये।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावो ह जज्ञिरे तस्मा स्माज्जाता अजावयः।।

ऋ0 ४ ,पृ0 1744; यजु0 ,पृ0483-84

2. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा।।

यजु0 , पृ0 486

सृष्टि का एक और उत्पत्ति क्रम दूसरे प्रकार से दिखाई देता है जिसमें यह वर्णन किया गया है कि सर्वप्रथम यहाँ हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुए और उन्होंने आकाश और पृथिवी को अपने-अपने स्थान पर स्थिर किया। जिससे हिमवान् पर्वत और समुद्र महिमावान् हुए।[1]

यजुर्वेद में एक स्थान पर यह वर्णन भी है कि हिरण्यगर्भ पूर्व में उत्पन्न हुआ और उन्होंने ही इस पृथिवी, अन्तरिक्ष को रचकर धारण किया।[2] एक अन्य स्थान पर प्रश्न किया गया है कि हम किस देवता को हवि प्रदान करें और फिर बाद में यह कहा गया है कि वह देव पुरूष रूप में प्रकट हुआ, गर्भ में यही स्थित होता है, जन्म भी यही लेता है और सब पदार्थों में व्याप्त भी यही है।[3]

जगत् के निर्माण के कारणभूत देवों के द्वारा मापन करने की क्रिया को कुछ विद्वान सृष्टि-निर्माण प्रक्रिया मानते हैं।[4] उस सृष्टि से विष्णु के वर्णन में यह कहा गया है कि विष्णु ने तीन पैरों से लोकों को नाप लिया।[5] और वरूण भी सूर्य के माध्यम से अन्तरिक्ष को नाप लेते हैं क्योंकि वे सूर्य के लिए विचरण का मार्ग विस्तीर्ण करते हैं।[6]

इस प्रकार से सृष्टि के आदि कारक का इदमित्थं विचार न भी प्रस्तुत कर पाने पर वैदिक ऋषि इस पर अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार करते हैं तथा इससे यह धारणा सामान्य रूप से प्रकट करते हैं कि जो भी सृष्टि उत्पत्ति

---

1. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु:। ऋक्-IV, पृ0 182।
2. हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत्।
   सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां...............। यजु0, पृ0 393
3. ए एव जात: स जनिष्यमाण: प्रत्यङ्‌जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख:।
   यजु0, पृ0 488
4. वै0मा0, पृ0 19
5. ऋक् I, पृ0 297
6. ऋक् II, पृ0 828

कर्त्री शक्ति है, वह विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न है।

मृत्यु तथा पुनर्जन्म

वेद साहित्य में मृत्यु और पुनर्जन्म के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर संकेतात्मक रूप में और स्पष्ट रूप में कहा गया है। जैसे पितरेश्वर यम की उपासना के लिए आवाहन करते हुए कहा गया है कि श्रेष्ठ कर्म करने वाले को यम सुख-सम्पन्न लोक प्राप्त कराते हैं। वे प्राणियों के परलोक के मार्ग को सरल करते हैं और सभी प्राणी उनके लोक को ही जाते हैं।[1] मृत्यु के देवता के रूप में यम का नाम ही आता है यम को अग्नि के साथ इसलिए मित्र रूप से सम्बद्ध कर दिया गया प्रतीत होता है क्योंकि अग्नि प्रमुख है मृत शरीरों को जलाकर उनके जीवों को परलोक पहुँचाने वाली।[2] एक स्थान पर तो यह उल्लेख मिलता है कि मरणधर्मी मनुष्य के साथ ही यम भी मरणधर्मी हैं और वे ही राजा यम के रूप में सर्व प्रथम मृत्यु को प्राप्त हुए तथा लोकान्तर को प्राप्त हुए।[3] इसी प्रकार से सम्भवतः मृत्यु के समय गोदान के अवसर पर गो से यह प्रार्थना की जाती है कि वह अपने गोपति को स्वर्ग लोक पहुँचावे।[4] इस उदाहरण से जहाँ मृत्यु का संकेत है वहीं यह संकेत भी प्राप्त होता है कि मृत्यु के सन्निकट प्राप्त व्यक्ति के लिए गोदान की परम्परा सम्भवतः आज की तरह ही तब प्रारम्भ हो चुकी थी।

---

1. परेयिवांसं प्रवतो महीरनु बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानाम्।
   वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।। ऋक् IV , पृ० 1555
2. बै० मा०, पृ० 326
3. यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
   वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ।। अथर्व० II , पृ० 814
4. वही, पृ० 812

एक स्थान पर प्रजापति द्वारा सृष्टि निर्मिति की चर्चा करते हुए यह उल्लेख है कि जो उसके यज्ञ को भली प्रकार जानता है वह अपने शरीर में स्थित प्राणों की गति को रोक लेता है और जो ऐसा नहीं जानता उसके प्राण वृद्धावस्था के पूर्व ही उसका परित्याग कर देते हैं।[1] एक अन्य उदाहरण ऐसा है जिस में यह वर्णन है कि पहले उत्पन्न देह के अवसान पर त्यक्त आत्मा तीन प्रकार से नियमों में बंध जाता है। वह अपने पुण्यकार्य से स्वर्ग प्राप्त करता है, पापकार्य से नरक प्राप्त करता है और पुण्य तथा पाप दोनों प्रकार के अपने कार्यों से पृथिवी में उत्पन्न होकर सुख तथा दुख दोनों का समान रूप से भागी होकर यहाँ रहता है।[2] इसी प्रकार से अन्य एक स्थान पर अग्नि से निवेदन किया गया है कि हे अग्नि ! जो जीवित हैं उनकी आयु में वृद्धि करो और मृतकों को परलोक भेजो।[3]

इसी प्रकार से मृत्यु प्राप्त प्राणी का इस लोक में पुनर्जन्म भी होता है, ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे यह कहा गया है कि तीन लोकों में आकाश और पृथिवी सूर्यलोक के समीप है इनमें से एक लोक अन्तरिक्ष यमलोक का द्वार रूप है। इसका संकेत यह है कि प्राणी तीनों लोकों में रह सकता है पृथिवी में मनुष्य है ही और वह प्राण त्याग कर मृत्युलोक में जाता है।[4]

---

1. न च सर्व ज्यानि जीयते पुनरेनं जरसः प्राणो जहाति। अथर्व० II, पृ० 578
2. प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ्‌ वि गच्छति।
   अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीह एकेन निषेवते ।। वही० , पृ० 622
3. वही, पृ० 652; ऋक् IV , पृ० 1890
4. ऋक् I , पृ० 86

अनेक रूपों में उत्पन्न होके संकेत के रूप में अथर्ववेद के उदाहरण का संकेत लिया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि प्रजापति सबके गर्भ में विचरण करता है और वह अनेक रूपों में उत्पन्न हुआ है। उसका आधा भाग यह जगत् है क्योंकि इसी में वह अनेक रूपों से व्याप्त है।[1]

एक स्थान पर यह कहा गया है कि मेरी आयु नष्ट होकर फिर मुझे प्राप्त हो गई है। वे प्राण फिर से प्राप्त हुए हैं। जीवात्मा, दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति आदि मुझे पुनः प्राप्त हो गई है।[2]इससे यह अनुमान होता है कि प्राण जाकर पुनः प्राप्त हुए हैं। जीवात्मा, दर्शनशक्ति और श्रवणशक्ति पुनः प्राप्त हुई है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्व में वह विलीन हो गई थी और अब प्राप्त हुई है। इसी तरह से उस उद्धरण को भी संकेतित किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि जो आत्मा का तिरस्कार करते हैं वे देह त्याग कर उन योनियों में जाते हैं जो आत्महन्ता कहे जाते हैं।[3]इसी तरह यद्यपि प्राण का नाश नहीं माना गया पर कहा गया कि यह कभी दूर और कभी पास रहता है। कभी एक वस्त्र पहनता है और कभी अनेक। इस प्रकार इसका इस जगत् में आवागमन लगा ही रहता है।[4] यह संकेत में कथन किया गया हो पर वह किया अवश्य गया है। यह आवश्य है कि मर्त्य में भी प्राण की अमर्त्य स्थिति का कथन है।

---

1. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो बहुधा विजायते ।
   अर्धेन विश्वं भुवनं जजान . . . . ।। अथर्व० XI, पृ० 558
2. पुनर्मनः पुनरायुर्मा आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन् पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन् । वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा . . . . . । यजु०, पृ० 49
3. यजु०, पृ० 553
4. अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।
   स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ।। ऋक् IV, पृ० 1890

कर्म

कर्म और कर्म फल की चर्चा वेद साहित्य में संकेतात्मक रूप में उपलब्ध है। इसके सन्दर्भ के लिए यह कहा गया है कि देह के अवसान के बाद यदि जीव पुण्यकर्मा होता है तो वह स्वर्ग का फल प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय यह है यदि उसने पुण्य सम्पादन के कर्म किए हैं तो वह स्वर्ग के सुख-भोग का अधिकारी बनता है और यदि वह पाप से समन्वित कर्म करता है तो उसे नरक के दुख भोगने पड़ते हैं। जब जीव उभयात्मक अर्थात् पाप-पुण्य मिश्रित कर्म करता है तो उसे पृथिवी में देह धारण कर यहाँ का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।[1] इसी तरह से उपासक के लिए पितरेश्वर यम की उपासना करने का सन्देश भी जिसमें यह कहा गया है कि तुम उसकी सेवा करो जो श्रेष्ठ कर्म करने वाले को सुख से सम्पन्न लोक प्राप्त कराते हैं।[2] एक अन्य स्थान पर प्राणी के कर्म के सामर्थ्य और उसके फल का कथन इस रूप में किया गया है कि विराट् पुरुष से संसार के गुणधर्मों के धारणकर्ता धर्म उत्पन्न हुए और जिस स्वर्ग में देवगण निवासी करते हैं उस स्वर्ग को यज्ञिय जन प्राप्त करते हैं।[3] जिनके कर्म अच्छे नहीं होते वे नरक पाते हैं और जो ब्राह्मणों से कर लेते हैं वे रक्त की नदी में डूबे रहते हैं।[4]

1· प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति ।
अद् एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीह एकेन नि षेवते ।। अथर्व० II, पृ० 622

2· ऋक् IV, पृ० 1555

3· वही, पृ० 1745

4· ये ब्रह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते ।। अथर्व० I, पृ० 225

ऋषियों द्वारा प्रवर्तित कर्म की महत्ता का और अधिक उल्लेख वहाँ पर किया गया प्राप्त होता है जहाँ यह कहा गया है कि जो तप के बल से दुर्धर्ष हुए हैं और जिन्होंने घोर तप किया है, वे स्वर्ग के निवासी हुए हैं। जो संग्राम भूमि में संग्राम करते हैं, जिन्होंने मोह को त्याग दिया है और जिन्होंने प्रचुर मात्रा में धन का दान किया है, वे स्वर्ग में ही पितरों के पास गमन करते हैं।[1] ऐसा ही एक कथन एक अन्य स्थान पर इस प्रकार से प्राप्त है जिसमें यह प्रतिपादित है कि जो ज्ञानी जन हैं वे अपने सभी अंगों को साधित कर लेते हैं और स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हैं तथा फिर वे दिव्यमार्ग से गमन करते हुए सीधे स्वर्ग को जाते हैं और प्रकाशमय स्थान को प्राप्त करते हैं।[2] एक स्थान पर यह संकेत दिया गया है कि स्वर्ग पुण्यकार्यों का फल है। इसलिए पिता से अनुरोध है कि हे पिता! अपने उत्तम कार्यों को करते हुए स्वर्ग लोक में जाओ और उस उत्तम लोक को प्राप्त करो।[3]

इस रूप में और भी अनेक स्थानों पर जीव के कर्म के स्वातन्त्र्य और उसके फल तथा अफल को संकेतित किया गया है। जो जिस प्रकार का कर्म करता है, वह उसी प्रकार का फल भी प्राप्त करता है।

---

1. तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययः ।
   तपो ये चक्रिरे महंस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।।
   ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
   ये वा सहस्त्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।। ऋक्0IV, 1868
2. प्रजानन्तः प्रतिगृहणन्तु पूर्वे प्राणमङेभ्यः पर्याचरन्तम् ।
   दिवं गच्छ प्रतिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ।। अथर्व0I, पृ0 79
3. स गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
   हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ।। ऋक्0IV, पृ0 1556

माया और अविद्या

मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने वैदिक ऋचाओं में माया और अविद्या शब्दों का प्रयोग किया है और यह अभिमत दिया है कि माया ही जीव को जीवत्व का भान कराती है और वही अपनी प्रभावी शक्ति से अन्यथा व्यवहार करती है। एक रूपक के वर्णन में ज्ञानी जन जिस प्रकार से एक अज्ञानी को देखते हैं उसका निरूपण करते हुए लिखा गया है कि मेधावी जनों ने एक पतङ्ग को देखा और मन में यह विचार किया कि इस पर आसुरी माया का प्रभाव पड़ चुका है। वह परमात्मा में विलीन होना चाहता है।[1] इस वर्णन में सम्भवतः "पतंग" शब्द से अभिप्राय उस जीव से है जो माया से विमोहित है।

अन्य एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि माया का प्रभाव आसुरी प्रभाव होता है और कोई भी असुर जब सुरों पर विजय प्राप्त करना चाहता है तब वह अपनी आसुरी माया का ही प्रभाव प्रयोग में लाता है। इसीलिए एक बार इन्द्र ने ऋजिश्वन से मित्रता की और पिप्रु असुर की माया का नाश कर दिया।[2] इसी प्रकार से एक और स्थान पर इस तरह का उल्लेख है जिसमें यह निरूपित है कि इन्द्र ने यजमान के निमित्त राक्षसी माया का नाश किया और अन्धकार को दूर किया।[3] इन सन्दर्भों से इतर एक सन्दर्भ अनृत वाणी के लिए भी माया शब्द का प्रयोग किया गया है।[4]

---

1. पतंगमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
   समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।। ऋ०10, पृ0,1889
2. दृळ्हानि पिप्रोरसुरस्य मायिन इन्द्रो व्यास्यच्चकृवाँ ऋजिश्वना। वही, पृ01850
3. अभिर्हि माया उप दस्युमागान्मिहः............। वही, पृ0 1698
4. वही, पृ0 1694

यजुर्वेद के एक सन्दर्भ में जब यह प्रश्न किया गया है कि रूपों को निगलने वाली कौन है, शब्दपूर्वक रूपों को कौन निगल लेती है तब यह उत्तर दिया गया है कि अजा माया ही सभी रूपों को निगल लेती है। वही शब्द करती हुई रूपों को निगल लेती है।[1] इसका अभिप्रायिक संकेत यह लगता है कि रूपादि की प्रतीति माया से ही होती है और जब माया निष्प्रभावी हो जाती है तो सभी रूपादि स्वत: अदृश्य हो जाते हैं।

माया का प्रभाव मायाती और प्रभावी होती है, इसका भी एक संकेत इस प्रकार किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि जो यजमान हवि प्रदान कर अग्नि को प्रसन्न करता है, अग्नि के प्रभाव से उस यजमान के शत्रु भी उस पर माया नहीं कर जाते। अग्नि ऐसी माया को नष्ट कर देती है।[2] माया की तरह तो नहीं किन्तु विद्या की विरोधी के रूप में अविद्या का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिसमें यह वर्णन है कि सृष्टि के रचनाकार ने जो जीव के देह में प्रवेश किया तो विद्या की तरह ही अविद्या ने भी प्रवेश किया।[3]

इस प्रकार से माया और अविद्या का उल्लेख संकेतात्मक रूप में होने पर भी यह धारणा बनाने में सहायक है कि ये शक्तियाँ विमोहित करने वाली और अनपेक्षित शक्तियाँ हैं। इनसे विमोहित जीव असहज वृत्तिवाला हो जाता है।

---

1. अजारे पिशगिंला श्वावित्कुरु पिशंगिला।
   शशा आस्कन्दमर्षत्यहि: पन्था विसर्पति। वही, पृ० 406
2. न तस्य मायया च न रिपुरीशीत मर्त्य:।
   यो अग्नये ददाश हव्यदातये।। साम०, पृ० 64
3. विद्याश्च अविद्याश्च यच्चान्यदुपश्यम्।
   शरीर ब्रह्मा प्राविशदृच: सामाथी यजु:।। अथर्व० II , पृ० 62।

इन अर्थों के अतिरिक्त भी माया शब्द का प्रयोग वेद में दूसरे अर्थों में हुआ है। जैसे ऋग्वेद में - मायाविनो ममिरे अस्य मायया - के प्रयोग पर सायण का अभिमत है कि यहाँ माया का प्रयोग प्रज्ञा के अर्थ में हुआ है।[1] इसी प्रकार से जब ऋग्वेद में ही अन्य स्थानों पर माया शब्द का प्रयोग किया गया है तो वहाँ पर भी इसका प्रयोग प्रज्ञा के अर्थ में किया ग या प्रतीत होता है।[2]

माया शब्द के अन्य प्रयोगों का अभिप्राय कहीं पर शक्ति और कहीं पर कपट के रूप में प्रकट हुआ है। जैसे-"दासानामिन्द्रो मायया"-के प्रयोग का अर्थ सायणाचार्य ने "इन्द्रो मायया स्वकीयया" शक्त्या" किया है और- मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वम्- का अर्थ आचार्य सायण ने "हे इन्द्र! त्वं मायिनं नानाविधकपटोपेतं शुष्णं मायाभि: कपट विशेषै: "कपट के रूप में किया है।[3]

इसी प्रकार से माया का प्रयोग आसुरी माया के रूप में, कर्म के रूप में तथा मोह उत्पन्न करने वाली के रूप में हुआ है।[4]

---

1. मायाविन: माया प्रज्ञा प्रज्ञावन्तो देवा: मायया प्रज्ञाया।
   ऋ0 सं0 (च0), पृ0 734
2. मायाम्नु तु यज्ञियानामेतामयो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन् ।
   x x x x
   ऋतायिनि मायिनि सं दधाते ....।
   x x x x
   युव शक्रा मायाविना समीची निरमन्थम्...........।
   x x x x
   त्वं मायाभिरनवद्य मायिनम्.............। ऋक0 , पृ0 1736;
3. ऋ0 सं0 (प्र0), पृ0 78; ऋ0 सं0 (द्वि0), पृ0 433
4. वही, पृ0 1771; यजु0 पृ0 168; ऋ0 सं0 (तृ0), पृ0 719

परलोक और मोक्ष

वेद परलोक तथा मोक्ष दोनों की अवधारणा को स्पष्टरूप से व्यक्त करते हैं। स्वर्ग की प्राप्ति किन्हें होती है और स्वर्ग जाकर जीव क्या भोगता है, इस का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार कहा गया है जिसके अनुसार जो कठिन तपस्या करते हैं, जो युद्ध में अपने जीवन का मोह त्याग कर युद्ध करते हैं और जो अत्यधिक मात्रा में दक्षिणा देते हैं, वे स्वर्ग लोक को प्राप्त करते हैं।[1] जहाँ तक स्वर्ग के जीवन का प्रश्न है तो वहाँ का जीवन बहुत अधिक सुखकर बताया गया है। वहाँ पहुँच कर जीव की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं और उसका जीवन प्रमुख रूप से यम तथा वरुण देवताओं के बीच में व्यतीत होता है। वहाँ जाकर जीव को जरावस्था की अनुभूति नहीं होती है क्योंकि वहाँ वह जरावस्था से मुक्त होता है। वह वहाँ जाकर परम तेजस्वी हो जाता है और उस तेज से वह देवताओं का प्रियपात्र भी बन जाता है।[2] स्वर्ग की महिमा ऐसी है कि जो वहाँ प्राप्त होता है, वह माता, पिता और पुत्रों को देखता है पत्नीयुक्त होकर सुखी रहता है। इसी प्रकार से स्वर्गस्थ जीव के लिए यह भी कहा गया है कि वह अपने पूरे जीवन तक जीता है।[3]

1· उच्च दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदा सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते .... ।। ऋग्०IV, पृ० 1792;
x x x x ऋग्० I , 250
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ।। ऋग्०IV, पृ० 1868

2· वही, पृ० 1531; 1556; 1587

3· अथर्व०I , पृ० 334; अथर्व०II, पृ० 654

स्वर्गलोक की विस्तृत अवधारणा के समान नरकलोक की चर्चा तो वेदों में नहीं प्राप्त होती है किन्तु नरक का संकेत अवश्य किया गया है। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि जो ब्राह्मण-हिंसक होकर देव बन्धु ब्राह्मण को मारता है वह पितृयान द्वारा मिलने वाले लोक को प्राप्त नहीं करता है। इसी प्रकार से कुछ जनों ने ब्राह्मण भृगुओं को मार डाला था और इसलिए वे स्वर्ग नहीं प्राप्त कर सके थे।[1] एक स्थान पर एक ऐसे लोक का वर्णन किया गया है जो पृथिवी से दूर तथा नीचे की ओर है। इसके लिए कहा गया है कि जो पुण्यकार्यों में विघ्न उपस्थित करते हैं वे इस लोक में चले जावें।[2] अन्यत्र स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पुण्य से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पाप से नरक मिलता है तथा मिलता है तथा पाप-पुण्य दोनों के प्रभाव से मृत्युलोक।[3]

इन दोनों मुख्य लोकों के अतिरिक्त यम लोक और पितृलोक की भी चर्चा की गई है। अथर्ववेद में अग्नि का स्तवन करते हुए यह निवेदन किया गया है कि तुम मृतकों को पितरलोक भेजो।[4] इसी प्रकार यम का स्तवन करते हुए यह प्रार्थना है कि हमारे पितर उनके लोक को प्राप्त करें।[5]

इस प्रकार से पृथिवी लोक के अतिरिक्त अन्य लोकों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है और यह भी कि जो जिस प्रकार का कर्म करता है, वह उस लोक में जाता है। मुख्यत: अकर्म के कर्ता नरक में और सुकर्म के कर्ता स्वर्ग जाते हैं।

---

1. यं ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्। अथर्व० I, पृ० 225
2. असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्य:।
   तत्र सेदिन्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्य:।। वही, पृ० 59
3. अथर्व० II , पृ० 622
4. वही, पृ० 652
5. ऋक्० IV, पृ० 1555- 1558

परलोक की प्राप्ति से आगे बढ़कर और इसके सुख से इतर पार सुख की आकांक्षा मोक्ष प्राप्ति के रूप में, बन्धन से मुक्ति के रूप में अथवा ब्रह्मपद की प्राप्ति के रूप में वेदों में दृष्टिगत है। ऋग्वेद में जब अग्नि का स्तवन किया गया है तो उसमें मनुष्य को मोक्ष की इच्छा वाला बताया गया है।[1]इसी रूप में मरुतदेवों की प्रार्थना में कहा गया है कि हे आकाश पुत्रो! यद्यपि तुम मरणधर्मा पुरुष हो किन्तु तुम्हारे स्तोता न कभी मरने वाले होवें और न कभी नाश होने वाले होवें।[2]इस आकाक्षा में मृत्यु से बचना और अमरता की इच्छा व्यक्त करना मोक्ष ही है।

अमरत्व और ब्रह्मपद एक सदृश हैं तथा इनकी प्राप्ति की कामना के साथ यह भी प्रतिपादित है कि तप और निष्ठा से ब्रह्मपद प्राप्त होता है। तप, दीक्षा, कर्म ही वे आधार हैं जो पुरुष को ब्रह्मज्ञानी बनाते हैं और उसमें ब्रह्मपद प्राप्त करने की योग्यता का आधार करते हैं।[3]

वेद जब विष्णु की प्रार्थना करते हैं तो यह कहते हैं कि विष्णु का पराक्रम और प्रभाव महनीय है। इसलिए स्तोता चाहता है कि मैं उस विष्णु के पद का आश्रय प्राप्त करूँ जहाँ सभी आश्रय पाते हैं। विष्णु ही बन्धु हैं और उनका पद परम उत्सव का पद है।[4]यही कारण है कि यह कहा गया है कि विष्णु का पद परम पद है तथा ज्ञानीजन सदा उसे देखते हैं।[5]

---

1. मुमुक्ष्वो मनवे मानवस्येते रघुद्रुव: कृष्णसोतास ऊ जुव: । ऋक्0 I , पृ0 279
2. वही, पृ0 92
3. यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह ।
   मायो मा तत्र वयन्त्वमृत• • •   • • • । अथर्व0 II , पृ0 898
4. उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था विष्णो: पदे परमे मध्व उत्स: । ऋक् I, पृ0 297
5. तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय: । वही, पृ0 59

विष्णु के परम पद की विवेचना सायण ने अपने भाष्य में की है। उन्होंने लिखा है कि विष्णु का पद अनश्वर अर्थात् ब्रह्मलोक से अभिधेय है। वहाँ दानादि से प्राप्त व्यक्ति आनन्द का अनुभव करता है। विष्णु अर्थात् परमेश्वर का पद केवल सुखात्मक है। वहाँ पर क्षुधा, तृष्णा, जरा मरण आदि की अनुभूति नहीं होती हैऔर अमृत भोग प्राप्त होते हैं। वह पद प्राप्त करके जीव पुनः नहीं आता।[1]

मुक्ति की कल्पना में बन्धन से मुक्त हो जाने का अनुरोध किया गया है जिसमें एक स्थान पर यह कहा गया है कि त्र्यम्बक। हम आपका यजन करते हैं और आपकी कृपा से शरीर तथा प्राण के बन्धनों से उसी प्रकार मुक्त होना चाहते हैं जिस प्रकार से खरबूजा पकने पर लता के सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। आप हमें इस प्रकार से मुक्त करो जिससे हम मोक्ष अथवा मुक्ति रूपी अमृत से कभी दूर न रहें।[2]

इस तरह मुक्ति उस पद की प्राप्ति का संकेत देती है जिसमें अमरता और संसार के बन्धन से मुक्त हो जाने का अभिप्राय निहित है।

- -

1. अस्य महतो विष्णोः पाथः अविनश्वरं ब्रह्मलोकमित्यर्थः । यत्र स्थाने देवयवः देवं धोतनस्वभावं विष्णुमात्मन इच्छन्तो यज्ञदानादिभिः प्राप्तमिच्छन्तः नरः मदन्ति तृप्तिमनुभवन्ति। विष्णोः व्यापकस्य परमेश्वरस्य परम उत्कृष्टे निरतिशये केवल सुखात्मके पदे स्थाने मध्वः मधुरस्य उत्सः निष्यन्दो वर्तते। यत्र क्षुत्तृष्णाजरामरण पुनरावृत्यादिभयं नास्ति। संकल्पमात्रेण कुल्यादिभोगाः प्राप्यन्ते। ...त । ऋक्0 , पृ0

2. त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मा मृतात् ।। ऋक्0VII, पृ0 1055;
यजु0 , पृ0 44

पुरुष: क्षर और अक्षर रूप में

अर्जुन को उपदेश करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि इस संसार में क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी) दो प्रकार के पुरुष हैं। इनमें से सम्पूर्ण भूत प्राणी नाशवान अर्थात् क्षर हैं और अविनाशी अर्थात् अक्षर ब्रह्म को कहा जाता है।[1] क्षर और अक्षर की इस परिभाषा के अनुरूप यदि हम वेद में पुरुषप्रयोग देखें तो दोनों ही रूपों में यह हमें दिखाई देता है।

पुरुष सूक्त एक ऐसे अक्षर पुरुष की कल्पना करता है जो व्यापक है और हजार हाथ-पैरों वाला होकर सम्पूर्ण भूमि को व्याप्त किए है तथा स्वयम् दश अंगुलि के परिमाण वाला है। यही पुरुष, जो कुछ भूतकाल में हुआ वह है, वर्तमान में जो कुछ है, वह है और भविष्यत् काल में जो कुछ होगा, वह भी है।[2]

इससे इतर रूप में पुरुष का जो कथन किया गया है वह उसका क्षर रूप है और स्पष्टरूप से ऐसे पुरुष को मरणधर्मा कहा गया है। अग्नि की प्रार्थना में क्षर पुरुष को मरणधर्मा स्पष्टरूप से कहा गया है।[3] इसी प्रकार से अग्नि द्वारा भष्म किए गए मर्त्य (पुरुष) के लिए भी सुख की कामना की गई है।[4]

---

1. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
   क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। भ0 गी0 , पृ0 246
2. सहस्रशीर्षा पुरुष: सहस्त्राक्ष: सहस्रपात् ।
   x x x x
   पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्चभाव्यम् । ऋक्0 IV, पृ0 1743-44; साम0, पृ0 182
3. अथा न उभयेषाममृत मर्त्यानाम् । मिथ: सन्तु प्रशस्तय: । ऋक् I, पृ0 67
4. अथर्व0 II , पृ0 812

हिरण्यगर्भ तथा पुरुष का विराट रूप

हिरण्यगर्भ का विशिष्ट स्वरूप और उनका वर्णन ऋक् में विस्तार से किया गया है। ये हिरण्यगर्भ ही सर्व प्रथम हुए और सभी प्राणियों के स्वामी हुए। इनके शक्ति-सामर्थ्य से ही आकाश और पृथिवी अपने -अपने स्थान पर स्थित हुए। वे अपनी महिमा से ही देखने वाले और चलने वाले प्राणियों के स्वामी हैं। हिमाच्छादित पर्वत जिनकी महिमा से उत्पन्न हुए समुद्र से युक्त पृथिवी भी जिनकी समझी जाती है और सम्पूर्ण दिशाएँ जिनकी भुजाओं के समान हैं। जिनकी महिमा ऐसी है कि उससे ही यह पृथिवी दृढ़ है और स्वर्ग अवस्थित है। जो इस प्रजा पति के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा सम्भव नहीं हो सकता, ऐसा हिरण्यगर्भ हमारी कामनाएँ सिद्ध करे।[1] वह हिरण्यगर्भ ऐसा है जिससे सभी काल उत्पन्न हुए, जिसे ऊपर-नीचे,आसपास कहीं भी ग्रहण नहीं किया जा सकता। जिससे पूर्व कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ। जो सभी लोकों में अकेले ही व्याप्त है। उसकी न तो कोई प्रतिमा है और न कोई स्वरूप। बस, उसका तो नाम ही अत्यन्त महान् और यशस्वी है।[2] एक अन्य स्थान पर इस हिरण्यगर्भ को "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" से भी सम्भवत: कहा गया है क्योंकि इसी पद के अन्त में "ओम खं ब्रह्म" का प्रयोग भी है।[3]

---

1. हिरण्यगर्भ: समवर्तताग्रे भूतस्य जात: पतिरेक आसीत् ।
   स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
   x x x x
   य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
   x x x x
   यत्कामास्ते जुहुम: . . . . ।। ऋक्0 IV , पृ0 1821-23
2. यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
   x x x x
   न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश: ।
   हिरण्यगर्भ: इत्येष: . . . . ।।यजु0 , पृ0 488-89
3. वही , पृ0 555 ; अथर्व0 II , पृ0 553

पुरुष की महिमा और पुरुष के विराट् स्वरूप का वर्णन भी इसी रूप में अनेक स्थानों पर किया गया है। यह पुरुष हजारों शिर वाले, हजारों नेत्रवाले, हजारों चरणवाले सम्पूर्ण भुवन को व्याप्त कर स्थित हैं। ब्राह्मण इसके मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य जंघा और शूद्र चरण हुए। उसके मन से चन्द्रमा, चक्षु, से सूर्य, श्रोत्र से वायु, मुख से अग्नि प्रकट हुई। ऋषि इस पुरुष की महिमा का और अधिक विस्तार देकर यह कथन करते हैं कि इसकी नाभि से अन्तरिक्ष, शिर से स्वर्ग, पावों से पृथिवी, श्रोत्र से सभी दिशाएँ उत्पन्न हुई। इतना ही नहीं, वेद कहता है कि मैं उस पुरुष को अन्धकार रहित जानता हूँ और उसे जानकर ही मृत्यु को जीता जा सकता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

और एक अन्य स्थान पर इस पुरुष रूप देव की महिमा इतनी अधिक गाई गई है और इसके विराट स्वरूप के लिए कह दिया गया है कि जो चेष्टावाला है, जो प्राणन् किया करता है, जो निमिष के समान है उसने इस भूमि को धारण किया है और वही एक रूप है।[2]

---

1. सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
   x x x x
   ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
   ऊरू तदस्य यद् वैश्यः . . . . ।
   | x x x x
   चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽजायत ।
   x x x x
   नाभ्यासीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
   x x x x
   वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
   तमेव विदित्वा मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। यजु0; पृ0 483-85;
   ऋक्0 IV , पृ0 1743-45

2. यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद् भवत् ।
   तद्दाधार पृथिवी . . . . ।। अथर्व0 II , पृ0 558

स्कम्भ -स्वरूप -

अथर्ववेद का स्कम्भसूक्त अत्यधिक प्रसिद्ध सूक्त है। पहले इसमें जिज्ञासा के रूप में यह जानने की इच्छा व्यक्त की गई है कि इसके किस अंग में तप, किस अंग में ऋतु, किस अंग में श्रद्धा और किस अंग में सत्य रहता है। जो परम, अधम और मध्यम हैं तथा जिन सब रूपों को प्रजापति ने बनाया है, उनमें कितने अंश से स्कम्भ प्रविष्ट हुआ है? लोक, कोश और जल जिसमें निहित माने जाते हैं और जिसमें सत् तथा असत् भी है, उस स्कम्भ को बताओ? जिसमें सूर्य, रूद्र, भूत, भव्य और सभी लोक निहित हैं, उस स्कम्भ को बताओ?

और आगे इसी सूक्त में उसका एक प्रकार से उत्तर देते हुए कहा गया कि स्कम्भ में लोक, तप और ऋतु निहित हैं। हे स्कम्भ! इन्द्र ने तुझे प्रत्यक्ष देखा है, तू इन्द्र में निहित है।

बाद में इसी क्रम में स्कम्भ के साथ-साथ ब्रह्म शब्द का भी प्रयोग किया गया और वर्णन किया गया है कि चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं तथा अग्नि जिसका मुख रूप है, उस ब्रह्म को नमन है और इस रूप में स्कम्भ का महनीय रूप ब्रह्म के साथ एक सदृश हो जाता है। एक विद्वान् ने अभिमत व्यक्त किया है कि परब्रह्म जगत का आधार है इसलिए उसे स्कम्भ(आधार) कहते हैं।

---

1. कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति.....................।

x x x

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्मजना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि ।।

x x x

स्कम्भेलोकाः स्कम्भेतपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्।

x x x

इन्द्र त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम्।।

x x x

अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः।। अथर्व॰ 11 ,पृ0550-554

2. वै0 सा0सं0 ,पृ0 25।

आत्मा

आत्मा शब्द का प्रयोग वेदों में अनेकबार किया गया है। किन्तु विद्वानों में यह मत भिन्नता अवश्य है कि इसका प्रयोग किस किस अर्थ में किया गया है। जैसे एक विद्वान् का मत यह है कि "आत्मन्" शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में मानव देह, श्वास, जीवन-शक्ति, तथा मनुष्य के निजी व्यक्तित्व को प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।[1] एक दूसरे विचारक का यह मत है कि आत्मा, मनस्, असु और प्राण शब्द समानार्थ प्रयुक्त हैं।[2] एक और विद्वान् का यह मत है कि आत्मा शब्द मानवदेह, प्राण वायु आदि के अर्थों में प्रयुक्त होने के साथ-साथ परमात्मा के अंशभूत जीवात्मा के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है।[3] एक अन्य विचारक के मत से देवताओं की प्रार्थना में निरत ऋषियों ने "अभय-ज्योति" प्राप्ति की इच्छा की और वही आत्मरूप में प्रतिष्ठित हुआ।[4]

आत्मा के लिए देह और शरीर का अर्थ आचार्य सायण भी देते हैं। वे "आत्मानं शरीरम्," "आत्मा देहो वर्तते", "आत्मा-भोगायतनत्वात् तब प्रियतरो देहं," आदि रूप में व्याख्यात करते हैं।[5] वे प्राणरूप आत्मा के लिए यह भी लिखते हैं कि आत्मा परम प्रेयरूप, निरतिशय आनन्दरूप सभी को सुख देती है।[6] और इस सन्दर्भ में आत्मादेह, प्राण, मनस् आदि से महत्वपूर्ण तत्व के रूप में व्यक्त होती है।

यदि मूल रूप से उन संदर्भों को देखा जाए जिनमें आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है तो हम यह देख सकते हैं कि आत्म शब्द का अभिप्राय ऐसे स्थलों में एक व्यापक और सत्य तत्व से है जो शाश्वत है। जैसे एक स्थान पर वायु

---

1. ऋ॰दा॰त॰, पृ॰77
2. वै॰मा॰, पृ॰ 316
3. वै॰सा॰सं॰, पृ॰ 260
4. भा॰द॰, पृ॰ 32
5. ऋ॰ सं॰ (च॰), पृ॰320; 483; ऋ॰सं॰(तृ॰), पृ॰ 210
6. आत्मैव परमप्रेमास्पदतया निरतिशयानन्दरूप: आत्मा यथां सर्वान् सुखयति । ऋ॰सं॰(तृ॰), पृ॰ 155

का स्वरूप वर्णन करते कहा गया है कि यह वायु सभी देवताओं का आत्मा है। सम्पूर्ण भुवन के लिए गर्भरूप है और अनुकूल विचरण करता है।[1] इसी प्रकार से जब सूर्य की प्रार्थना की गई है और महत्व का आख्यान किया गया है तो यह कहा गया है कि रश्मियों के समूह रूप मित्र, वरुण और अग्नि के नेत्र रूप प्रकाशवान् प्राणियों के आत्मरूप सूर्य संसार को प्रकाशित करने के निमित्त उदित होते हैं। वे अपने तेज से तीनों लोकों को पूर्ण करते हैं।[2] इसी वेद में एक स्थान पर आत्म यज्ञ का आख्यान किया गया है और यह निरूपित किया गया है कि सम्पूर्ण भूतों को ब्रह्म मानकर सब लोकों और सभी दिशाओं एवं प्रदिशाओं को ब्रह्म मानकर आत्मरूप यज्ञ में लीन हो जाना चाहिए।[3]

इसी प्रकार का एक सन्दर्भ इस प्रकार का है जिसमें यह निरूपित है कि जो आत्मज्ञानी सब प्राणियों को आत्मा में ही देखता है तथा सब प्राणियों में ही स्वयम् को देखता है, वह संशय में नहीं पड़ता है। इसी तरह आत्मज्ञानी को शोक और मोह नहीं होता।[4]

इस रूप में देह, प्राण, मनस् आदि के क्रम से आत्मा की अवधारणा बाद में एक व्यापक और अमरतत्व के रूप में प्रतिष्ठित हुई तथा बाद के दार्शनिकों ने इसी को आधार बनाया।

---

1. आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः। ऋक्0 ,पृ0 1882
2. चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
   आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्ष सूर्यमात्मा जगतस्तस्थुषश्च।। यजु0, पृ0 212
3. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च उपस्थाय
   प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश। वही, पृ0 490
4. यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
   सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति।। वही, पृ0 554

ब्रह्म :-

वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्म शब्द का प्रयोग बहुतायत के साथ किया गया है। यह शब्द नपुंसकलिंग में और पुंलिग दोनों में समान रूप से प्रयुक्त है। जैसे - स नायते गोतम इन्द्र नव्यमतक्षद्ब्रह्म हरियोजनाय- में प्रयुक्त ब्रह्मशब्द पर आचार्य सायण ने यह लिखा है कि यहाँ पर प्रयुक्त ब्रह्म शब्द सूक्त अथवा स्त्रोत के लिए कहा गया है।[1] अन्यत्र प्रयुक्त ब्रह्म शब्द सृष्टा और प्रजापति के रूप में कहे गये हैं।[2]

सायण की इन अवधारणाओं के साथ ही मूल सन्दर्भों में यदि देखा जाए तो वेद एक ऐसी अपूर्व शक्तितत्व की कल्पना करते हैं, जो अनन्तशिरवाली अनन्त नेत्र तथा अनन्त पद वाली शक्ति है और स्वयम् मात्र दश अंगुलि के आकार की होकर अवस्थित है। वह इस सृष्टि की भूतकालिक ,भविष्यकालिक और बर्तमान-कालिक अवस्थिति की स्वामिनी है। संसार के सम्पूर्ण प्राणी उसके एक अंश में अवस्थित है और उसके तीन अंश दिव्य अमृत रूप हैं।[3]

इसी प्रकार से एक अपूर्व शक्ति को हिरण्यगर्भ का नाम देकर यह कहा गया कि सर्वप्रथम यहाँ पर हिरण्यगर्भ ही थे। वही सम्पूर्ण प्राणियों के एक

- -

1. नूतनं ब्रह्म एतत्सूक्तरूपं स्तोत्रं अतक्षत् अकरोत्। ऋ॰सं॰(प्र0),पृ0310

2. य कामये तं तमुग्नं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ।
   .... ब्रह्माणं सृष्टारं करोमि । ऋ॰सं॰(च),पृ0414
   x x x
   आदित्यान्विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्।
   .... ब्रह्माणं प्रजापतिम् ।। वही, पृ0 453

3. सहस्त्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
   x x x
   पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।। ऋक् IV ,पृ01743

मात्र स्वामी थे। उन्होंने ही इस पृथिवी और आकाश को अपने-अपने स्थान में स्थापित किया। इस प्रकार के "क" नामक देवता के लिए हम हवि प्रदान करते हैं।[1]

इसी अपूर्व और महिमामयी शक्ति को ही ब्रह्म नाम से भी अभिहित किया गया क्योंकि जब इसकी उपासना की तो इसकी भी वही शक्तियाँ और स्वरूप बताये गये हैं जो प्रजापति और हिरण्यगर्भ की बताई गई थीं। एक स्थान पर कहा गया कि जो भूत, भविष्य, बर्तमान में व्यापक है, जो दिव्य लोक का अधिष्ठाता है, उस ब्रह्म को प्रणाम है। एक स्थान पर यह भी प्रतिपादन है कि सत्, चित् ,सुखात्मक संसार का कारण भूत ईश्वर {ब्रह्म} प्रथम रूप से प्रकट हुआ जो सत् तथा असत् का उत्पत्ति स्थान है। उसी ब्रह्म में ही हविरूप अन्न देवताओं को प्राप्त हुआ।[3]

यज्ञरूप ईश्वर को और यज्ञ की महत्ता को स्थापित करने वाले वेद ने अन्तत: यह कहा कि ब्रह्म ही होता है, ब्रह्म ही यज्ञ है,ब्रह्म ही यूप और स्वर वेत्ता है। ब्रह्म से ही अदवर्यु उत्पन्न हुए तथा ब्रह्म में ही सभी प्रकार की हवियाँ अवस्थित हैं। ब्रह्म ही यज्ञ का सुना है और ब्रह्म ही वेदी है ब्रह्म ही यज्ञ का तत्व

1· वही , पृ0 182।

2· यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।

सर्वयस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नम:।। अथर्व0 II ,पृ0 556

3· ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् विसीमत: सुरूची वेन आव:।

× × × × ×

ब्रह्म ब्रह्मण उज्जभार ....।। अथर्व0 । , पृ0129

है और वे ऋत्विज भी ब्रह्म हैं जो हवि अन्न यज्ञ में प्रदान करते हैं।[1]

इस रूप में ब्रह्मशक्ति ही एक अद्वितीय शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुई और वही आदि ,मध्य और अन्त में तत्त्व रूप में विद्यमान हुई। यह ब्रह्म की अवधारणा का स्वरूप है।

विश्लेषण :-

यह पूर्व में कहा जा चुका है कि वेद हमारी परम्परा के और हमारी विचार-सरणि के आदि स्त्रोत तो हैं किन्तु उनमें किसी भी विचारधारा के क्रमिक विकास का स्वरूप नहीं दिखाई देता है। इसके विपरीत वहाँ पर संकेत रूप में ही कुछ भी कहा गया है और उसी से चिन्तकों तथा विचारकों ने विभिन्न विचारों को विकसित रूप में स्थापित किया है। जैसे वेद विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ करते करते उनमें से किसी एक ऐसे तत्व को खोजते हैं जो सभी में व्याप्त हो और जिसकी सत्ता शाश्वत और सार्वकालिक हो। इसी क्रम में वहाँ पर जीव, मनस्, प्राण, पुरूष, हिरण्यगर्भ , स्कम्भ, आत्मा और ब्रह्म की क्रमिक स्थापना देखी जा सकती है,जो बाद की आत्मवादी विचारधारा को अनुप्राणित करती है।

- -

1. ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रहमणा स्वरवोमिता:।
   अध्वर्युर्ब्रहमणो जातो ब्रहमणोऽन्तर्हितं हवि:।।
   ब्रहमस्रुवो धृतवतीर्ब्रहमा वेदिरूपिता।
   ब्रहम यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृत:।। अथर्व0 ।। ,पृ0 897

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन उपनिषदें और उनमें आत्मा का स्वरूप)

द्वितीय अध्याय

****
****
****
*****
***

॥ प्राचीन उपनिषदें और उनमें आत्मा का स्वरूप ॥

उपनिषद् शब्द् का अर्थ, उपनिषदों की संख्या, उपनिषदों के मुख्य प्रश्न, रचनाकाल एवं रचयिता, उपनिषदों में मूल तत्व की खोज, जल, वायु, अग्नि, आकाश, असत् तथा ब्रह्माण्ड, सत् तथा सद्रूप प्राण, अविद्या, प्रकृति तथा माया, जीव, पुरुष का विराट रूप तथा उससे सृष्टि की उत्पत्ति, ईश्वर की व्यापकता और सृष्टिकारणत्व, परा तथा अपराविद्याएँ, प्रणव स्वरूप, आत्मरूप, अणु तथा महदात्मा, ब्रह्म, पुरुष रूप ब्रह्म, आत्मा, पुरुष तथा ब्रह्म की समरूपता, आत्मवाद का औपनिषदिक स्वरूप।

द्वितीय अध्याय

(प्राचीन उपनिषद् और उनमें आत्मा का स्वरूप)

उपनिषद् शब्द का अर्थ-

उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर उपनिषद् शब्द की निष्पत्ति होती है। इस शब्द में प्रयुक्त धातु सद् का प्रयोग विशरण (विनाश) गति (ज्ञान एवं प्राप्ति) तथा अवसादन (शैथिल्य) अर्थों में होता है।[1] इस प्रकार उप और नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से जिस उपनिषद् शब्द का निर्माण होता है उसका अर्थ विद्वानों ने "जिस ज्ञान अथवा विद्या के द्वारा ब्रह्म का सामीप्य अथवा साक्षात्कार हो वह विद्या और ज्ञान ही उपनिषद् कहे जा सकते हैं।" से लिया है।[2] उपनिषद् शब्द में प्रयुक्त सद् धातु का एक अन्य अर्थ समीप बैठना भी किया गया है जिससे यह इङ्गित होता है कि गुरु के समीप बैठकर परब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त कराने में सहायक होने के कारण उपनिषद् को ब्रह्म के समीप बैठाने वाले ज्ञान के रूप में लिया जा सकता है। ब्रह्म विद्या अथवा ज्ञान का प्रतिपादक होने के कारण इसका नाम उपनिषद् रखा गया है।[3]

क्योंकि सद् धातु का एक अर्थ विशरण और शैथिल्य भी किया जाता है इसीलिए उपनिषद् शब्द में इस अर्थ की प्रतीति के लिए यह मत व्यक्त किया जाता है कि ब्रह्म की समीपता प्राप्ति के बाद अविद्या का नाश (विशरण) हो जाता है और ज्ञान की प्राप्ति से अन्य और मृत्यु के बन्धनों का शैथिल्य हो जाता है,

---

1. षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु । सि० व० ; पृ० / 26, 248
2. उ० स० ज्ञा०, पृ० ।
3. वै० ए० पृ० 467 एवं उ० त० ज्ञा०, पृ० 2

जिससे उपनिषद् शब्द सद् के तीनों अर्थों को प्रगट करता है। कठोपनिषद् में इसी भाव को प्रगट करती हुई पंक्ति दी गई है।[1] कीथ ने ओल्डेन बर्ग के हवाले से अपनी पुस्तक "द रिलीजन एण्ड फिलासफी आफ द वेद एण्ड उपनिषद्स" में उपनिषद् शब्द का अर्थ पूजा किया है।[2] डयूसन उपनिषद् शब्द के अर्थ गुप्त शब्द, गुप्त मूल ग्रन्थ तथा गुह्य आशय करते हैं।[3]

आचार्य शंकर के मत से सद् धातु के विशरण, गति और शैथिल्य के अर्थ के प्रयोग से उपनिषद् शब्द ब्रह्म विद्या सम्बन्धी अर्थ ही देता है क्योंकि उपनिषद् ब्रह्म विद्या के आद्य ग्रन्थ हैं इसीलिए ग्रन्थ का नाम उपनिषद् ही हुआ है।[4] तैत्तिरीय उपनिषद् में भी इस प्रकार का अभिमत व्यक्त किया गया है, जिसके अनुसार पुरूष के गर्भागम, जन्मादि के उच्छेद करने, उनका आसाद करने तथा नाश करने के कारण उपनिषद् का अर्थ विद्या है। ब्रह्म के समीप ले जाने वाली होने के कारण वह विद्या ही उपनिषद् है।[5]

उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इससे इन उपनिषदों में प्राप्त होता है। इसी कारण से उपनिषद् वेदान्त के रूप में भी कुछ विद्वानों को मान्य हैं।[6]

---

1. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ
   मर्त्योऽमृतोभवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ।ई0 द्वा0 उ0 पृ0 35
2. वही, पृ0 492
3. वै0 इ0 भाग 1, पृ0 91-92
4. कठ0 शां0 भा0 2/3/18
5. ई0 द्वा0 उ0, पृ0 92 ; 12
6. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
   नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः ।।

   ई0 द्वा0 उ0, पृ0 454, 68; भा0 द0 {बृ0} , पृ0 75

उपनिषदों की गणना इतिहास-पुराण के साथ-साथ अन्य वाङ्मय के साथ की गई, जिससे उपनिषद् शब्द ग्रन्थपरक बन गया है। बृहदारण्यक में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि जैसे गीली लकड़ी के द्वारा आधान कियेगये अग्नि से नाना प्रकार का धुआं निकलता है वैसे ही ऋग्वेद्,यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, इतिहास पुराण, देवजन, उपनिषद्, मन्त्र और अर्थवाद है-

"स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवेतानि सर्वाणि निश्वसितानि।[1]

इस प्रकार से उपनिषद् शब्द के अर्थ निष्पादन में अन्य जो भी युक्तियाँ दी जाती हैं उनको भी इसी में समाहित किया जा सकता है।

यहाँ यही कहा जासकता है कि आचार्य शंङ्कर ने उप एवं नि उपसर्ग पूर्वक सद्लृ धातु से क्विप् प्रत्यय लगाकर जो उपनिषद् का अर्थ किया है, और जिस अर्थ से अनेक विद्वान् सहमत हैं, वही अर्थ उपनिषद् शब्द के लिए सार्थक प्रतीत होता है।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषद् कितनी संख्या में रचे गये थे और कितनी संख्या में हैं- इसका उत्तर इदमित्थं रूप में दिया जाना सम्भव नहीं हैं। ऐसा इसीलिए है कि इनकी रचना प्राचीन समय से लेकर बहुत बाद के समय तक होती रही हैं। भारतीय परम्पराओं में यह कहा जाता है कि प्राचीन समय में वेदों कीनप्रत्येक शाखाएँ उपलब्ध हैं और न ही उन पर रचेगए उपनिषद् ही प्राप्त हैं।[2] बादरायण के ब्रह्मसूत्र में छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, तैत्तिरीय, कौषीतिकी, मुण्डक तथा प्रश्नोपनिषदो का उल्लेख किया गया है।[3]

1• ई0 हा0 उ0 , पृ0 307
2• बौ0 उन0 वि0 , पृ0 1
3• वे0द0 (पाल) पृ0 119-120

वर्तमान समय में दो सौ से भी अधिक संख्या में उपनिषद् उपलब्ध हैं किन्तु हमारी मान्यता यह है कि उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ है।[1] निर्णय सागर प्रेस बम्बई से 112 उपनिषदों का प्रकाशन किया है।[2] दाराशिकोह ने सत्रहवीं शताब्दी में 50 उपनिषदों का अनुवाद फारसी में किया था।[3] उपनिषद् वाक्य महा-कोष में 223 उपनिषदों के नाम उद्धृत किये गये हैं इससे यह अनुमान होता है कि उपनिषदों की संख्या 200 से ऊपर हो सकती है।[4] विश्व बन्धु शास्त्री ने वैदिक पदा-नुक्रम कोष में उपनिषद् पदों को 200 उपनिषदों के आधार पर सम्पादित किया है।[5]

उपनिषदों की इस विशाल संख्या को देखते हुए तथा परम्परा के आधार पर उनकी भिन्न-भिन्न संख्या मानते हुए यह कहना सहज नहीं है कि उपनिषदों की कुल संख्या कितनी है। यहाँ पर बादरायण के ब्रह्म सूत्र में जिन उपनिषदों का उल्लेख किया गया है तथा आचार्य शङ्कर ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य तैत्ति-रीय, ऐतेरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् पर जो भाष्य प्रस्तुत किया है उससे यह कहना संगत है कि उक्त उपनिषदें प्रामाणिक एवं प्राचीन उपनिषदें हैं।

उपनिषदों के मुख्य प्रश्न-

भारतीय चिन्तन का मूल उद्गम वेद हैं- यह तथ्य प्राय: निर्विवाद रूप से मान्य है, किन्तु इसके साथ यह भी मानना चाहिए कि उस समय का मनुष्य अपनी सभ्यता और संस्कृति के लिए मुख्य रूप से प्रकृति के अधीन था। इस स्थिति में प्रकृति

---

1. नि॰, पृ॰ 2।
2. भा॰ द॰, पृ॰ 30
3. वै॰ सा॰ सं॰ (ब) पृ॰ 259
4. वही, पृ॰ 119
5. उ॰ स॰ सं॰ , पृ॰ 3

के उपादान, ग्रह, उपग्रह, समुद्र, नदियाँ, अग्नि, वायु, चन्द्र, सूर्य आदि तत्व कभी उसे रम्यतासे अपनी ओर आकृष्ट करते थे, तो कभी वह इनकी विकरालता से भयभीत और त्रस्त भी होता था। इन दोनों ही अवस्थाओं में वह कभी प्रसन्नता से कभी भय से इन प्राकृतिक उपादानों की स्तुतियाँ करता था यही कारण है कि वह कभी अग्नि की स्तुति करता है और कभी वायु की।[1]पर कभी वह इनके प्रति इनकी स्तुति करता हुआ सन्देहशील हो जाता है और यह कहने लगता है कि यदि इन्द्र वैसा है तो हमारी स्तुति इस इन्द्र के लिए समर्पित है।[2] धीरे-धीरे वह अपने सन्देह को तथा अपनी जिज्ञासा को और बढ़ाता जाता है तथा यह विचार करता जाता है कि यह वस्तुजात सत् है अथवा असत् ? देवताओं के पूर्व क्या कुछ सत् था अथवा असत् था ? क्या पूर्व में सत् अथवा असत् कुछ भी नहीं था।[3]धीरे-धीरे वह अपनी इसी ऊहापोह की स्थिति से अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचने का प्रयास भी करता है कि सत् एक है उसे चिन्तक अनेक रूप से कहते हैं- एकं सद् विप्रा बहुधा बदन्ति।[4]

वैदिक चिन्तन की इसी प्रारम्भिक पृष्ठभूमि ने उपनिषदों को अपना चिन्तन आगे बढ़ाने का आधार दिया है। इतना अवश्य है कि उपनिषद् कालीन विचारक और ऋषि प्रकृति के तत्वों से उतना अभिभूत नहीं थे जितना अभिभूत वैदिक ऋषि थे। इसीलिए उपनिषद् का ऋषि प्रकृति के उपादानों की स्तुति क. और अधिक उन्मुखन होकर मुख्य रूप से ज्ञान के उस मूल तत्तव को जान लेना चाहता है जिसे जान लेने पर सब कुछ ज्ञात हो जाता है और इसी ज्ञान को जानने के लिए वह सीधा

1• ऋक् §I 7§ पृ0 104 , ऋ0 सं0 §च§ 10/168/4

2• वही0 10/121/1-2

3• यजु0 19/77/ : अथर्व 8/4/12

4• ऋक् §I§ पृ0 75 ; अथर्व0 3/55

प्रश्न करता है कि वह क्या है जिसको जान लेने पर सभी कुछ ज्ञात हो जाता है।[1] इसी प्रकार उसके मन में यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि वह क्या है जो शरीर की मृत्यु के बाद भी अमर रहता है यद्यपि शरीर निद्रा में अचेत पड़ा रहता है।[2]

उपनिषदों में मूल जगत को लेकर विविध प्रकार के प्रश्न किये गये हैं और उनका समाधान करने के लिए विविध प्रकार के तर्कों का सहारा लिया जाता है उदाहरण के लिए यह प्रश्न उठा कि वह क्या है जिससे सम्पूर्ण जगत का उद्भव होता है और जिसमें सम्पूर्ण जगत लीन हो जाता है यह क्या है जिसमें सम्पूर्ण जगत् की स्थिति बनी रहती है।[3]

इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह प्रश्न भी कि हमारा उद्भव क्या है और हमारे जीवन का अधिष्ठान कहाँ है? उन्हीं प्रश्नों की श्रृंखला की एक कड़ी है जिसमें उपनिषद् सत्य जानने के लिए चेष्टारत हैं।[4]

प्रश्नोपनिषद् में तो प्रश्नों का एक क्रम ही प्रस्तुत किया गया है। जिसमें जिज्ञासु द्वारा यह जानने की इच्छा की गई है कि यह सम्पूर्ण प्रजा कहाँ से उत्पन्न होती है- "भगवन् ! कुतो ह इमा: प्रजा: प्रजायन्त इति ।[5]

---

1. शौनको ह महाशालो गिरसं विधिनदुपसन्न: पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । ई० द्वा० उ०, पृ० 54
2. अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिन: । देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते। वही०, पृ० 30
3. वही, पृ० 93
4. किं कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता जीवाम केनक्व च संप्रतिष्ठा: । अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।। ई० द्वा०उ०,पृ०428
5. वही, पृ० 38

इसी प्रकार अश्वल के पुत्र कौशल ने पिप्पलाद से पूँछा था कि यह प्राण किस विशेष कारण से उत्पन्न होता है तथा यह शरीर में प्रविष्ट हो अपने को किस प्रकार विभक्त करता है। इन्हीं प्रश्नों की श्रंखला में सूर्य के पौत्र सत्यकाम के वे प्रश्न भी किये गये हैं जिनमें यह जिज्ञासा की गई है कि इस शरीर में कौन सी इन्द्रियाँ सोती हैं और कौन सी इन्द्रियाँ जागती हैं। यह सुख किसे होता है? तथा जो जो मरणपर्यन्त आकार का चिन्तन करता है वह किस लोक को जीतता है।[1] और याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का यह संवाद तो बहुत ही प्रसिद्ध है, जिसमें मैत्रेयी याज्ञवल्क्य से प्रश्न करती है कि धन-धान्यपूर्ण सम्पूर्ण पृथिवी यदि मुझे मिल जाय तो क्या मैं अमर हो सकती हूँ- "सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथम तेनामृता स्यामिति।[3] और इसके उत्तर में ही याज्ञवल्क्य ने कहा था कि नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता है। धन से, संसार के अन्य भागों से अमरत्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। यह आत्मा ही दर्शन के योग्य है इसका ही श्रवण मनन और निदिध्यासन करना चाहिए-

आत्मा व अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।[4]

इस प्रकार से उपनिषद् जहाँ वैदिक ऋषियों के प्रारम्भिक चिन्तन को आगे बढ़ाती हैं और प्रकृति के उपादानों के आकर्षण तथा भय से अपने को मुक्त करती हैं, वहीं ये सृष्टि-जगत के सम्बन्ध में, पदार्थों के आदि उत्पादक के सम्बन्ध में तरह-तरह से प्रश्न उपस्थित करती हैं। उनका लक्ष्य मनुष्य के अन्तस् से उस अमरत्व

1• वही, पृ0 43

2• वही, पृ0 46-49

3• ई0 हा0 30 पृ0 304

4• वही, पृ0 304

को खोज लेने का है ही जो शरीर के नाश होने के बाद भी अस्तित्व में रहता है। साथ ही उनका लक्ष्य उस ज्ञान को पा लेने का भी है जिसे पाकर बाद में कुछ भी पाना शेष नहीं रहता है और जिसके पाने पर सभी कुछ पा लिया जाता है। इसके साथ ही उपनिषदें आत्मा के तत्व का स्वरूप तथा उसे पाने के उपाय के सम्बन्ध में भी भाँति-भाँति के प्रश्न करती हैं और उसके समाधान में निरत रहती हैं। यही मुख्य प्रश्न उपनिषदों में दिये गये हैं।

रचना काल एवं रचयिता

उपनिषदों का रचनाकाल निर्धारित करने लिए विद्वानों ने अनेक प्रकार के मानदण्ड अपनायें हैं किन्तु आज तक किसी भी विद्वान् के लिए उपनिषदों के रचना के समय को "इदमित्थम्" रूप में निर्धारित करना सम्भव नहीं हुआ है। इसका कारण यह है कि इनकी रचना का समय बहुत फैला हुआ है तथा इनका कोई एक रचयिता न होकर इनकी रचना में अनेक ऋषियों और चिन्तकों का योगदान है।

भारतीय परम्परा के अनुसार उपनिषदों की रचना ब्राह्मणों और आरण्यकों बाद हुई मानी जाती है। ब्राह्मणों के अंतिम भाग के रूप में रचित उपनिषद् ई0 पू0 1000 वर्ष पहले अस्तित्व में आ चुके हैं- ऐसा कहा जाता है। यह इनकी पूर्व सीमा निर्धारित की गई है जबकि बुद्ध के समय तक इनकी अपर सीमा बताई जाती है। बुद्ध का समय सामान्य रूप से ई0 पू0 पाँचवी शताब्दी स्वीकृत है।[1]

एक विद्वान् ने मैत्रायणी उपनिषद् के आधार पर ... ज्योतिष की गणना का संकेत कर उपनिषद् काल को सोलह सौ वर्ष ई0 पू0 माना है।[2]दास गुप्ता ने प्राचीन उपनिषदों के रचना काल को सात सौ से छह सौ वर्ष ई0 पूर्व स्वीकार

1• उ0 स0 सं0 , पृ0 14

2• वै0 सा0 सं0 (ब), पृ0 11

किया है।[1] श्री रानाडे का यह कथन है कि उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में विचार करते समय हमें यह विचार रखना चाहिए कि प्राचीन उपनिषदें तथा नवीन उपनिषदें पृथक्-पृथक् काल में रची गई हैं।[2] इसी प्रकार से श्री रानाडे ने मुक्तिकोपनिषद् में उल्लिखित ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतेरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर कौषीतिकी, तथा मैत्री उपनिषदों का विभाजन पाँच समूहों में किया है और यह मंतव्य व्यक्त किया है कि बृहदारण्यक तथा छान्दोग्योपनिषद् प्राचीनतम् उपनिषद् हैं।[2] इसके साथ ही वे यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि इन प्राचीन उपनिषदों में से भी किसी भी उपनिषद् का निश्चित रूप में रचनाकाल निर्धारित करना कठिन है किन्तु ई0 पू0 बारहवीं शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय उपनिषद् कालीन समय कहा जा सकता है।[3]

उपनिषदों के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक दृष्टिकोण यह भी प्रस्तुत किया जाता है कि महाभारत युद्ध की विभीषिका ने भौतिक जीवन की क्षणभंगुरता को प्रकट किया था तथा उस समय के व्यक्ति के मन में भौतिक सुखों के प्रति अविश्वास का जन्म हुआ था। प्रतीत होता है कि इसी के फलस्वरूप तब का व्यक्ति अन्तरमुखी हो गया था और उसने आत्मचिन्तन की ओर स्वयं को अभिमुख करलिया था, जिससे उपनिषदों की रचना का प्रारम्भ हो सका।

इस सन्दर्भ में यह प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है कि महाभारत कालीन परीक्षित बृहदारण्यक उपनिषद् रचना के समय समाप्त हो चुके थे।[4]

---

1. भा0 द0 इ0 , पृ0 28
2. उ0 र0 स0 , पृ0 9
3. उ0 र0 स0, पृ0 11-12
4. वही, पृ0 13
5. ई0 हा0 उ0 , पृ0 324

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर कुरु का उल्लेख किया गया है जो उल्लेख महाभारत के युद्ध के पश्चात् प्रतीत होता है। जिससे यह ज्ञात होता है कि तब छान्दोग्योपनिषद् की रचना हुई थी।[1]

जहाँ तक महाभारत के युद्ध का प्रश्न है उसे भारतीय परम्परा ई0 पू0 3102 में हुआ मानती है।[2] डा0 राधा कुमुद मुखर्जी ने अपनी पुस्तक "हिन्दुसभ्यता" में महाभारत युद्ध का समय ई0 पू0 1400 वर्ष के लगभग माना है।[3]इसलिए उपनिषदों की रचना के प्रारम्भिक समय को भी हम इसी समय के आस-पास निश्चित कर सकते हैं।

जहाँ तक उपनिषदों के रचयिता का प्रश्न है तो यह भी निर्विवाद नहीं है किन्तु इस विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उपनिषदों की रचना किसी एक आचार्य द्वारा न होकर अनेक आचार्यों द्वारा हुई है। भारतीय परम्परा में यह में यह मान्यता है कि वेद, उपनिषद् और इतिहास-पुराण सभी उस परम्परा के निश्वास हैं।[4]पाश्चात्य विद्वानों का कहना यह है कि भारतीय दर्शन के जनक ब्राह्मण नहीं अपितु राजकुमार अभिजात्य वर्ग के क्षत्रिय थे। यह मत हर्तेल और गार्वे मानते हैं, जबकि कीथ उपनिषदों को पुरोहितों का हस्तांतरण मानते हैं।[5]

---

1. वही, पृ0 127
2. उ0 स0 सं0 , पृ0 13
3. हि0 स0, पृ0 167
4. ई0 डा0 उ0 , पृ0 383
5. रि0 फि0 उ0 , पृ0 492

इस सम्बन्ध में यह विचार किया जाता है कि क्षत्रियों को ही उपनिषदों का रचनाकार मानना इसी लिए न्याय संगत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि बृहदारण्यक में ऋषि परम्परा की जो एक लम्बी सूची दी गई है वह केवल क्षत्रियों की ही सूची नहीं है उसमें ब्राह्मण वंश की एक लम्बी परम्परा है जो उपनिषदों के चिन्तक ब्राह्मणों की परम्परा का संकेत करती है।[1] यदि हम उपनिषदों में दिये गये नामों के आधार पर उनके रचनाकारों का उल्लेख करना चाहें तो छान्दोग्योपनिषद् के उद्दालक ऋषि का नाम महत्त्वपूर्ण रूप से ले सकते हैं जो पृथ्वी को ही समस्त वस्तुओं का मूल आधार मानते हैं।[2] इसी प्रकार से तत्वनिरूपण के क्षेत्र में शाण्डिल्य का नाम भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जो जीव जगत् का विवेचन करता हुआ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" का उद्घोष करता है।[3] इसी तरह से कठोपनिषद् का नचिकेता प्रश्नोपनिषद् का पिप्पलाद् तैत्तिरीयोपनिषद् के त्रिशंकु आदि ऐसे ब्रह्मवादियों के नाम हैं जो प्रत्यक्ष में यदि उपनिषदों के रचनाकार नहीं रहे होंगे तो भी इनके चिन्तन ने उपनिषदों को पूर्ण रूप से प्रभावित किया है, जिससे यह कहना ही तर्क संगत ठहरता है कि उपनिषदों की रचना किसी एक ऋषि के द्वारा न होकर अनेक ऋषियों के चिन्तन का परिणाम है।

उपनिषदों में मूल तत्त्व की खोज

वेदोत्तर काल में जिस उपनिषद परम्परा का सृजन और विकास हुआ उसमें भी प्रकृति के उन्हीं मूल तत्त्वों के विषय में अधिकतम मात्रा में विचार किया गया। जैसे जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि के विषय में उपनिषदों में विचार किया गया और इनमें से भी सृष्टि के प्रारम्भिक काल का मूल तत्त्व कौन सा है, इस पर

---

1. ई० हि० उ०, पृ० 315, 316
2. वही, पृ० 204
3. वही, पृ० 161

गम्भीर चिन्तन किया गया। इसी के फल स्वरूप यह प्रश्न उठा कि जिससे सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से प्राण धारण करते हैं। और विनष्ट होने पर जिसमें विलीन हो जाते हैं, उस तत्त्व को जानने की जिज्ञासा करा।[1]इसी प्रकार ऋषि श्वेताश्वतर यह प्रश्न करते हैं कि हमारा उद्भव किससे है, हमारे जीवन की स्थिति का अधिष्ठान क्या है।[2]और इस प्रकार से क्रमश: जो विचार निष्कर्ष के रूप में प्राप्त हुआ उसमें आत्मा और ब्रह्म तत्त्व को इस संसार का मूल मानकर तथा इन्हें अजर, अमर, अद्वैत, अनाम, अरूप आदि के विशेषण देकर पर तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया गया तथा इनसे ही सृष्टि की सम्पूर्ण रचना का आदि स्त्रोत खोजा गया। किन्तु प्राकृतिक तत्त्वों का विचार किस प्रकार आदि तत्त्व के रूप में हुआ, वह दृष्टव्य है।

जल

उपनिषद् जल की चर्चा महत्वपूर्ण रूप से करती हैं। जैसे कहती हैं कि यह नाम रूपात्मक जगत् पहले जल ही था। इसने ही सर्व प्रथम सत्य की रचना की। इसलिए सत्य ही ब्रह्म है।[3]इसी तरह से जब उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान जब उपनिषद् पृथिवी को बताती हैं तो कहती हैं कि इन चराचर प्राणियों का जन्म, स्थिति और लय स्थान होने के कारण पृथिवी रस है। पृथिवी का रस जल है और

---

1. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
   यत्प्रत्ययभिसंविशन्ति। तदविजिज्ञासस्व। ई० द्वा० उ०, पृ० 93
2. कि कारणं ब्रह्म कुत: स्म जाता, जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठा: ।
   अधिष्ठिता: केन सुखेतरेषु, वर्तामहे ब्रह्मविदों व्यवस्थाम्।। श्वे०, पृ० 30
3. आप एवेदमग्र आसुस्ता आप: सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म·····।ई० द्वा० उ०,पृ०389

जल का रस औषधियाँ हैं।[1] और इस रूप में भी जल की महत्ता स्पष्ट है। इसी दृष्टि से जल की पाँच प्रकार की उपासना करने का निर्देश भी उपनिषद् में दिया गया है। कहा गया है कि सभी प्रकार के जलों में पाँच प्रकार की उपसना करे। मेघ घनीभूत होने से हिंकार है जो बरसता है, वह प्रस्ताव है, जो बहता है, वह उद्गीथ और समुद्र निधन है।[2]

अन्न की अपेक्षा जल की महत्ता और पृथिवी को जल के रूप में छान्दोग्योपनिषद् में एक और स्थान पर कहा गया है। इसी तरह जल ही अर्क (इस नाम की अग्नि) है और जल से पृथिवी उत्पन्न हुई, ऐसा और भी कहा गया है तथा जल के महत्व को प्रतिपादित किया गया है।[4]

वायु

वायु के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से और महत्वपूर्ण रीति से उपनिषद् नहीं कहती। रैक्व के आख्यान में केवल इतना ही प्राप्त होता है कि एक बार राजा जानश्रुति रैक्व के पास उपदेश प्राप्त करने गए तब रैक्व ने कहा कि राजन्। वायु ही संवर्ग है, जब अग्नि बुझता है तो वायु में ही विलीन होता है, जब सूर्य अस्त होता है तो वायु में ही लीन होता है।[5]

---

1. एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्यामाथे रसः...... । वही, पृ0 110
2. सर्वास्वप्सु पञ्चविधसामोपासीत मेघो यत्संप्लवते स हिंकारो यद्वर्षति सप्रस्तावो याः प्राच्याः स्यन्दन्ते स उदगीथोः याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः समुद्रो निधनम् ।। छा0 उ0 , पृ0 161
3. वही, पृ0 752
4. ई0 छा0 उ0 , पृ0 264
5. वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति । छा0 उ0, पृ0 369

वायु के इस उल्लेख में यद्यपि सृष्टि के आदि में इसका होना सिद्ध नहीं होता और न ही यह कहा जा सकता है कि वायु सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व आदि तत्व के रूप में था किन्तु जैसा डा० रानाडे मानते हैं तदनुरूप यह कहा जा सकता है कि जब सभी कुछ वायु में विलीन होता है तो सभी कुछ वायु से उत्पन्न भी होता होगा।[1]

इसी प्रकार जब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि चन्द्र भला वायु में कैसे विलीन होता है तो आचार्य शंकर उसका समाधान करते हुए लिखते हैं कि गति वायु का कार्य है और इसी से गति करके चन्द्रमा अस्त होता है। और यही चन्द्रमा का वायु में विलीन होना है।[2]

अग्नि

अन्य तत्वों की अपेक्षा अग्नि की चर्चा उपनिषदों में विस्तार से की गई है और अग्नि को सभी में व्याप्त बता कर यह सिद्ध करने का सम्भवतः प्रयत्न किया गया है कि अग्नि सभी का मूल हो सकती है। सर्व प्रथम आत्मा के उपदेश के क्रम में यह कहा गया है कि जिस तरह सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो जाता है उसी प्रकार सभी भूतों में आत्मा होता है।[3]

छान्दोग्योपनिषद् में यह सन्दर्भ आया है कि सत्यकाम जाबाल ने जब उपकोशल को उपदेश नहीं दिया तो तीन अग्नियों ने ब्रह्मचारी को उपदेश दिया

- -

1. उ० द० स० , पृ० 55

2. नैष दोषः, अस्तमने दर्शन प्राप्तेर्वायुनिमित्तत्वात............।
अथवा प्रलये सूर्याचन्द्रमसोः स्वरूपभ्रंशे तेजोरूपयोर्वायावपिगमनं स्यात्।

छा० उ० [शांकरभाष्य], पृ० 370

3. अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।। क० शां०, पृ० 122

और कहा कि पृथिवी, अग्नि, अन्न और आदित्य मेरे शरीर हैं। जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा मेरे शरीर हैं। प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत मेरे शरीर हैं।[1] और इस रूप में मानों अग्नि ने सर्वत्र अपनी व्यापकता बताकर अपनी प्रथम स्थिति का संकेत किया। इसी प्रकार से पृथिवी और पुरुष को अग्नि कहा गया है।[2] तब इस रूप में यह प्रतीत होना संगत प्रतीत होता है कि सृष्टि का आदि तत्व अग्नि हो सकता है क्योंकि यह सर्वत्र व्याप्त है।

आकाश

अन्य प्राकृतिक तत्वों की अपेक्षा आकाश अत्यधिक सूक्ष्म तत्त्व है। इस लिए उपनिषद् में आकाश को आत्मा ही कह दिया गया है और बाद में आचार्य शंकर को अपने भाष्य में यह स्पष्ट करना पड़ा है कि जिस प्रकार आकाश नामरूप रहित है उसी तरह आत्मा भी है।[3]

इससे भी अधिक स्पष्ट वहाँ पर कहा गया है जहाँ पर यह प्रतिपादित है कि समस्तभूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं, आकाश में ही विलीन होते हैं अतएव आकाश ही इनका आश्रय है।[4]

---

1. वही, 408-415
2. ई० छा० उ० , पृ० 408-409
3. आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ये यदन्तरा......। छा० उ० , पृ०939

x x x x

आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा; आकाश इवा-
शरीरत्वात्सूक्ष्मत्वात् च। शंकराचार्यका भाष्य । वही, पृ० 939

4. सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त......। वही, पृ० 117

इससे और अधिक महत्व का अंकन वहाँ पर किया गया है जहाँ पर यह कहा गया है कि आकाश तेज से बढ़कर है आकाश में ही सूर्य,चन्द्र , विद्युत, नक्षत्र, अग्नि स्थित हैं। आकाश से ही एक दूसरे को पुकारते हैं, आकाश से ही सुनते हैं। आकाश से ही रमण करते हैं और आकाश में ही अंकुरित होते हैं। इसलिए आकाश की उपासना करो।[1]

असत् तथा ब्रह्माण्ड

वेद में यह संकेत आया है कि प्रथम समय में न सत् की सत्ता की न असत् की। अपितु सर्वत्र घने अन्धकार का ही अस्तित्व था।[2]इसी भाव की प्रतिच्छाया जैसी भावना उपनिषद् भी व्यक्त करती है जब वह कहती है कि इस संसार मण्डल में, जिसे ब्रह्माण्ड पद से वाच्य किया जा सकता है, पहले कुछ भी नहीं था। यह केवल मृत्यु से ही आवृत था।[3]एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि उत्पत्तिपूर्व यह नाम रूपात्मक जगत् यद्यपि सत् था किन्तु कुछ ऋषि यह मानते हैं कि आरम्भ में यह जगत् अद्वितीय असद् रूप ही था। उसी असत् से सत् की उत्पत्ति हुई।[4]एक अन्य सन्दर्भ में यह चेतावनी-सी दी गई है कि जो कोई ब्रह्म असद् है, यदि ऐसा जानता है तो वह स्वयम् असद् हो जाता है।[5]इस चेतावनी में यद्यपि ब्रह्म को असत् न जानने की इच्छा करना है तथापि "असत्" की सत्ता का अनुमान तो किया ही जा सकता है।

- -

1• आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ.................
आकाशमुपास्स्वेति। वही, पृ0 758

2• ऋक्0 सं0 (IV) 10/129/1

3• नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत् । ई0 द्वा0 उ0 , पृ0 264

4• तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसत: सज्जायेतेति ।वही, पृ0210

5• वही, पृ0 88

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के लिए भी ऐसा ही कहा गया है कि आदित्य ब्रह्म से, जो पूर्व में असत् था, एक अण्डरूप का उद्भव हुआ। वह जब द्विधा हुआ तो उसके रजत और स्वर्णरूप हुए। यद्यपि यहाँ "असत्" पद का अर्थ नाम रूप की अभिव्यक्ति न होने का अर्थ आचार्य शंकर ने किया है।[1]

सत् तथा सद्रूप प्राण

सत् तत्व का उल्लेख उपनिषद् में अनेक बार हुआ है। जैसाकहा गया कि हे सोम्य! आरम्भ में एक मात्र अद्वितीय सत् ही था।[2]और जो यह कहते हैं कि प्रारम्भ में असत् था उनके लिए आचार्य यह तर्क देते हैं कि हे सोम्य! ऐसा कैसे हो सकता है, भला असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है। अतएव सोम्य! आरम्भ में यह एक-मात्र अद्वितीय सत् ही था।[3]

उस सत् देवता ने यह ईक्षण किया कि मैं इस जीवात्मा रूप से नाम और रूप की अभिव्यक्ति करूँ, तब वह लाल, शुक्ल और कृष्णरूप तत्त्वों में परिवर्तित हो गया।[4]जिसे रानाडे सांख्य दर्शन में ग्रहण किए गए सत्व, रज और तम का रूप मानते हैं और उसी से सृष्टि की उत्पत्ति का अनुमान करते हैं।

- -

1. छा० उ० , पृ० 344

2. सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । छा० उ० , पृ० 582

3. कुतस्तु खलु सोम्यैव स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति।
सत्त्वेन सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । वही, पृ० 588

4. सेयं दैवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ।

x x x x
यदग्ने रोहितरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णंतदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ।
वही, पृ० 606, 613

यहाँ पर असत् पूर्व में था, इस प्रकार का कथन किया गया है वहाँ पर आचार्य शंकर उसका अर्थ सत् से ही करते हैं और यह तर्क देते हैं कि असत् का अर्थ नामरूप से अव्याकृत होना मात्र है सत्ता का अभाव नहीं।[1]

प्राण की सत्ता और प्राण की महत्ता का कथन तो उपनिषदें विस्तार से करती हैं और कहती हैं कि प्राण आशा से बढ़कर है। जैसे रथ के चक्र की नाभि में अरे समर्पित रहते हैं उसी प्रकार से यह सारा जगत् प्राणों में समर्पित रहता है। प्राण प्राणों के द्वारा ही गमन करता है। प्राण-प्राण को देता है और प्राणों के लिए ही लेता है। प्राण ही प्राणों का पिता है वही माता, भ्राता, स्वसा, आचार्य और ब्राह्मण है।[2]

सभी कुछ प्राण में ही समर्पित रहता है उसका कथन करते हुए ऋषि ने यह तर्क दिया है कि प्राण ही संवर्ग है। जब पुरुष सोता है तब प्राण को वाक्,इन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र और मन इन्द्रिय समर्पित हो जाती है। तब प्राण इन सबको अपने में लीन कर लेता है।[3]

- -

1. वही, पृ0 594
2. प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरानाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितम्। प्राण: प्राणेन याति प्राण: प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता भ्राता प्राण: स्वसा प्राण आचार्य: प्राणो ब्राह्मण:।

   छा0 उ0 , पृ0 767
3. अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्ग: स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षु: प्राण: श्रोत्रं प्राणं मन: प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ।

   वही, पृ0 371 ; 443

मुण्डक में एक स्थान पर यद्यपि प्राण को ब्रह्म से उत्पन्न बताया गया है तथापि यह भी कहा गया है कि प्राण से ही मन, इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न हुई है।[1]

अविद्या, प्रकृति तथा माया

उपनिषदें अविद्या प्रकृति और माया तीनों शब्दों का प्रयोग स्थान - स्थान पर करती हैं। छान्दोग्योपनिषद् में एक स्थान पर कर्म करने की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए यह बताया गया है कि जो इस "अक्षर" को जानता है वह कर्म करता है और जो नहीं जानता है, वह भी कर्म करता है है। जाने वाले का कर्म विद्या से युक्त कर्म है और न जानने वाले का कर्म अविद्या से युक्त है।[2]यहाँ पर अविद्या को एक प्रकार से अज्ञान के रूप में प्रयुक्त किया गया है। इसी प्रकार से अन्य एक सन्दर्भ इस प्रकार का प्राप्त है जिसमें कहा गया है कि उस अविनाशी ब्रह्म में विद्या और अविद्या दोनों अन्तर्निहित हैं। अविद्या विनाशी है और विद्या अमृत है। जो विद्या और अविद्या पर शासन करता है, वह अन्य है।[3]

प्रकृति का उल्लेख स्पष्ट रूप से श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनेक स्थानों पर किया हुआ मिलता है। जैसे यह कहा गया है कि एक पुरुष अपने ही समान प्रजा

- - - - - - - -

1. एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
   खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।। ई० द्वा० उ०, पृ० 59;
   प्र० उ०, पृ० 14-18

2. तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव ....। वही, पृ० 44

3. द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते, विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
   क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ।।
   श्वे०, पृ० 17।

उत्पन्न करने वाली लोहित, शुक्ल तथा कृष्ण वर्ण वाली प्रकृति को भोगता है और दूसरा उसका त्याग कर देता है।[1]

इसी प्रकार से अन्य एक स्थान पर यह कहा गया है कि माया प्रकृति है और मायावी महेश्वर है।[2] प्रकृति के पर्याय के रूप में "प्रधान"[3] शब्द का प्रयोग भी उपनिषद् में किया गया है जिसे सांख्य दर्शन ने अपना लिया है।

माया शब्द का प्रयोग और उसकी शक्ति का स्वरूप उपनिषदें स्थान - स्थान पर व्यक्त करती हैं। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि वह परमात्मा अपनी माया से प्रति-प्रतिरूप वाला हो गया[4]। एक अन्य सन्दर्भ में यह प्रतिपादित है कि छन्द, क्रतु, यज्ञ, व्रत आदि जो कुछ है, ईश्वर अक्षर से उत्पन्न करता है और दूसरा माया से बंधा हुआ।[5] माया को अनृत के साथ जोड़ कर एक स्थान पर यह कहा है कि जिनमें कुटिलता, अनृत और माया नहीं है उन्हें ब्रह्मलोक प्राप्त होता है।[6]

इस रूप में जिस प्रकार से माया का प्रयोग किया गया है उससे यही प्रतीत होता है कि माया वह शक्ति है जिससे अव्यक्त ब्रह्म स्वयम् को भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त करता है। साथ ही इसी माया से बंधकर निर्विकार जीव भी सविकारी बन जाता है। इस रूप में माया जीव को बन्धन में बांधने वाली तथा अनृत रूप है ।

- -

1• अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। वही, पृ0 147 ;
क0 शां, पृ0 43

2• मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यैवावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। श्वे0 , पृ0 156

3• प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः, संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः । श्वे0 , पृ0 210
4• इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते • • • • • • । ई0 द्वा0 उ0 , पृ0 314
5• श्वे0 , पृ0 154
6• तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति। वही, पृ0 29

इसलिए यह भी कहा गया है कि जो क्षर और अमृत दोनों का नियमन करता है उसके चिन्तन से माया की निवृत्ति हो जाती है।[1]

जीव

मुण्डकोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में एक रूपक इस प्रकार का दिया गया है जिसमें यह कहा गया है कि सदा साथ रहने वाले दो पक्षी हैं। ये एक ही शरीर रूप वृक्ष का आश्रय लेकर साथ-साथ रहते हैं। एक अपने कर्म रूपी पिप्पल फल का स्वाद लेता है और दूसरा केवल देखता है। इस रूपक पर टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से अपने तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जो कर्मफल का भोग करता है, वह कर्तृत्वभाव वाला जीव है और जो निर्विकार भाव से केवल देखता है, वह परमात्मा है।[2]

इसी तरह का अन्य एक और रूपक है जिसमें यह कहा गया है कि शरीर में बुद्धि रूप गुहा के भीतर उत्कृष्ट ब्रह्मस्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट अपने कर्म को भोगने वाले छाया और धूप के समान परस्पर विलक्षण दो जीव और ईश्वर हैं।[3]

- -

1. तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।वही,पृ069

2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।। श्वे०, पृ० 150;
x x x x ई० द्वा० उ०, पृ० 64
तयोरन्यो विद्याकामवासनाश्रयलिंगोपाधिर्विज्ञानात्मा पिप्पलं कर्मफलं सुखदुःखलक्षणं स्वाद्व अनेकविचित्रवेदनास्वादरूपमत्ति उपभुंक्तेऽविवेकतः। अनश्नन्नन्यो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः परमेश्वरोऽभिचाकशीति सर्वमपि पश्यन्नास्ते।
उल्लिखित पर टीका । श्वे०, पृ० 150

3. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति· · · · · · · · ।
x x x x
ऋतंसत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ , एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुंक्ते नेतरः । क० शां० , पृ० पृ० 71-72 पर शांकर भाष्य

प्रश्नोपनिषद् में आत्मा में जीव की प्रतिष्ठा का क्रम बताते हुए यह निरूपित किया गया है कि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा और कर्ता विज्ञानात्म्य पुरूष अक्षर आत्मा में सम्यक् रूप से प्रतिष्ठित हो जाता है।[1] यहाँ पर द्रष्टा, श्रोता, घ्राता, मन्ता, बोद्धा और कर्ता जीव के लिए प्रयोग किया गया है।

अन्य उपनिषदों की अपेक्षा श्वेताश्वतरोपनिषद् जीव के विषय में अधिक स्पष्टता के साथ विचार करती है और कहती है कि जीव स्वयम् को प्रेरक से पृथक् मानता है इसलिए वह सबके लिए आश्रयभूत, प्रलयस्थान, महान् ब्रह्मचक्र में भ्रमण करता है।[2] एक अन्य स्थान पर यह उपनिषद् यह कहती है कि परमात्मा संयुक्त रूप से क्षर तथा अक्षर है। वह व्यक्त एवं अव्यक्त का समानरूप से पालन-पोषण करता है। भोक्तृ-भाव के कारण परतन्त्र आत्मा का बन्धन होता है।[3] और इसी भाव को वह सन्दर्भ भी व्यक्त करता है जिसमें अज्ञ और सर्वज्ञ को पृथक्-पृथक् रूप से कहा गया है।[4]

---

1. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरूष: स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते । प्र0 उ0 , पृ0 77

   पुरूष: कार्यकरणसंघातोत्क्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरूष:। स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जगदाधारशेषे परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते। उल्लिखित पर शांकरभाष्य । प्र0 उ0 , पृ0 78
2. वही, पृ0 59
3. संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरतेविश्वमीश: ।

   अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: । श्वे0 , पृ064
4. वही, पृ0 66

पुरूष का विराट रूप और उससे सृष्टि की उत्पत्ति

ऐतरेय उपनिषद् में पुरूष और उससे उत्पन्न सृष्टि के विराट स्वरूप का वर्णन किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि आत्मा से अंभ, मरीचि, मर और आप लोकों की सृष्टि हुई किन्तु बाद में उसने जल से ही एक पुरूष की संरचना की। इसके बाद उस पुरूषाकार पिण्ड को लक्ष्य कर तप हुआ और तब उस अण्ड से मुख प्रकट हुआ। उस मुख से वाणी और वाणी से अग्निदेव उत्पन्न हुए। नासिका छिद्रों से प्राण और उस प्राण से अभिमानी वायु उत्पन्न हुआ। पश्चात् नेत्रगोलक प्रकट हुए और उनसे चक्षुरिन्द्रय तथा चक्षुओं से आदित्य का उद्भव हुआ। इसी तरह से श्रोत्र गोलक उत्पन्न हुए तथा उनसे श्रोत्रेन्द्रिय एवम् श्रोत्रेन्द्रियों से दिशाएँ उत्पन्न हुईं। इसी प्रकार से वहाँ पर त्वक्, हृदय, नाभि आदि की उत्पत्ति का क्रम कह कर अन्त में जल के प्रादुर्भूत होने का संकेत किया गया है।[1]

एक अन्य सन्दर्भ में पुरूष के विराट रूप को इस तरह से कहा गया है कि हे गौतम! पुरूष ही अग्नि है। उसकी वाक् ही समिध है। प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे और श्रोत्र विस्फुलिंग हैं।[2]

इसी तरह से पुरूष के विराट रूप की और उससे उद्भूत होने वाली सृष्टि का अंकन श्वेताश्वरोपनिषद् में भी किया गया है। और यह कहा गया है कि उसे जानने के बाद प्राणी मृत्यु का ग्रास नहीं बनता ।[3]

---

1. सोऽद्भ्य एव पुरूषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत्। तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डम्। मुखाद्वा वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणा-द्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षीभ्यां चक्षुश्चक्षुष ....
शिश्नाद्रेता रेतस आपः। ई० उ०; 101 , 102
2. पुरूषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षु रंगाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः । छा० उ०, पृ० 49।
3. वही, पृ० 137 ; 125

ईश्वर की व्यापकता और सृष्टि कारणत्व

ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में यह कहा है कि जो अकेला अपनी मायावी शक्ति से शासन करता है, जो उत्पत्ति के समय अकेला है और प्रादुर्भाव के समय अकेला है; उसे जो जानते हैं वे अमर हो जाते हैं।[1]

इस सन्दर्भ में परमात्मा की ईशत्व की शक्ति की चर्चा अनेक टीकाकारों ने अपने-अपने मत से की है। शंकरानन्द का कथन है कि यह परमात्मा की ईश्वर-शक्ति है और माया के साथ जुड़ जाने पर आवरण और विक्षेप शक्तियों से युक्त हो जाती है। नारायण का कहना है कि परमात्मा की ज्ञानशक्ति तथा क्रिया शक्ति दो शक्तियाँ है। शंकराचार्य इसे परमात्मा की परम शक्ति मानते हैं।[2]

परमात्मा कितना व्यापक है इसे यह उपनिषद् इस प्रकार निरूपित करती है है कि परमात्मा सब ओर हाथ-पैर वाला, सब जगह आंख-शिर वाला, सब जगह कानों वाला संसार में सबको व्याप्त करके स्थित है।[3]

उस परमात्मा में सभी इन्द्रियों के राहित्य होने पर भी समस्त इन्द्रियों का भास होता है। वह सबका स्वामी, सबका शासक और सबका महान् आश्रय है।[4]

---

1. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वालोकानीशत ईशनीभिः। य एवैक उद्भवे सम्भवे च य यतद्रभूतास्ते भवन्ति । श्वे0 , पृ0 114

2. वही, पृ0 115

3. सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
   सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। वही, पृ0 134

4. सर्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
   सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ।। वही, पृ0 135

ईशावास्योपनिषद् में ईश्वर की सर्व व्यापकता और उससे भिन्न कुछ न होने का संकेत स्पष्टरूप से प्रथम कारिका में किया गया है। वहाँ पर यह कहा गया है कि इस जगत् में जो कुछ भी है वह सब ईश्वर ही है उससे इतर और कुछ भी नहीं है।[1] इस सर्वेश्वर के विषय में यह भी कहा गया है कि यह सबका शासक है यही सर्वज्ञ है, यही अन्तर्यामी है। यही सम्पूर्ण प्राणियों का उत्पत्ति स्थान और लय स्थान है। इसी कारण से यह सम्पूर्ण सृष्टि का एक मात्र कारण है।[2]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में जब इस ईश्वर की जगत् कारणता का उल्लेख किया गया है तो उसे रूद्र के नाम से अभिहित करते हुए यह कहा गया है कि उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। वह सभी पर शासन करता हुआ सभी जीवों के भीतर है तथा सभी लोकों की रचना करके उनका रक्षक होकर अन्ततः उन्हें अपने आपमें समाहित कर लेता है।

इस रूप में उपनिषदें ईश्वर की ईश्वर शक्ति के साथ-साथ उसे व्यापक बताकर उसकी सृष्टि कारणता का विस्तार से वर्णन करती हैं तथा उसकी सर्वातिशयता को स्वीकार करती हैं।

---

1. ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। ई० उ०, पृ० 3

2. एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्।
ई० श्वे० उ०, पृ० 7।

3. एको हि रूद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
प्रत्यङ् जनांस्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले
संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः।।

परा तथा अपरा विद्या

उपनिषद् स्पष्टरूप से दो विद्याओं के अस्तित्व को इस संसार में स्वीकार करते हैं। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। इसी को स्पष्ट करते हुए अंगिरा महर्षि शौनक को कहते हैं कि जानने योग्य विद्याएं दो ही हैं। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। परमात्मा विद्या को परा और धर्माधर्म के साधन, उसके फल सम्बन्धी विद्या को अपरा विद्या कहते हैं। इसमें ऋक्, यजु, साम, अथर्व, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। इससे पृथक् वह परा विद्या है जिससे उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान होता है।

इसी तरह का एक सन्दर्भ और है जो स्पष्ट रूप से दो विद्याओं के द्विधात्व को रेखाङ्कित करता है। उपदेश प्राप्त करने के लिए नारद जी सनत्कुमार के पास गए। सनत्कुमार ने कहा कि तुम जो कुछ जानते हो उसे पूर्ण रूप से बतलाते हुए मेरे पास आओ। उस ज्ञान के आगे मैं तुमको उपदेशित करूँगा। यह सुनकर के नारद् जी ने सनत्कुमार से कहा-भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद स्मरण है। इसके अतिरिक्त इतिहास- पुराण, व्याकरण, गणित, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, ब्रह्म-विद्या, भूतविद्या, नक्षत्रविद्या, नृत्य-संगीत आदि सभी जानता हूँ। और इस प्रकार मैं मन्त्रवेक्ता हूँ आत्मवेक्ता नहीं। इसके उत्तर में एक लम्बा प्रकरण है जो छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय के प्रथम खण्ड से लेकर तेईसवें खण्ड तक विस्तृत है। और

---

1. तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चापरा च ।

x x x x

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छान्दो ज्योतिषमिति। अथ परायया तदक्षरमधिगम्यते । उ0 ज्ञा0 , पृ0 72

इसमें क्रम से नाम की अपेक्षा वाक् की, वाक् की अपेक्षा मन की, मन की अपेक्षा संकल्प आदि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है और अन्त में यह कहा गया है कि भूमा ही जानने योग्य है। वही सुख है अल्प में सुख नहीं है। उस भूमा की ही विशेष-रूप से जिज्ञासा करनी चाहिए।[1]

इसी प्रकार से कठोपनिषद् कहती है कि वे अविद्या के भीतर विद्यमान अपने को महान् बुद्धिमान् और पण्डित मानने वाले, कुटिल गति का अवलम्बन करने वाले मूढ़ पुरुष अन्धकार से परिचालित कुटिल गतियों को प्राप्त करते हैं।[2] दूसरे एक स्थान पर यह स्पष्ट कथन है कि यह आत्मा विद्याध्ययन द्वारा प्राप्त करने योग्य नहीं है। न धारणशक्ति से और न श्रवण द्वारा ही प्राप्त करने के योग्य है यह आत्मा अपने ही ज्ञान से स्वयम् को व्यक्त कर देता है।[3] इस प्रकार से लौकिक विद्या से आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का निषेध स्पष्ट है।

प्रणव स्वरूप

प्रणव और ओम् की एक रूपता अथवा इन दोनों की एकता का कथन छान्दोग्योपनिषद् में उस स्थान पर किया गया है जहाँ पर यह कहा गया है कि

---

1. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति। छा० उ०, पृ० 785

2. अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्टयमाना: पुत्रपश्वादि-तृष्णापाशशतै:। स्वयं वयं धीरा: प्रज्ञावन्त: पण्डिता:;.............. जरामरणरोगादिदु:खै: परियन्ति परिगच्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टि-विहीनेनैव नीयमानाविषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ।। क० उ०, पृ० 44 पर शांकर भाष्य ।

3. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: ....। क० उ० , पृ० 67

निश्चय ही जो उद्गीथ है वही प्रणव है। इस तरह आदित्य ही उद्गीथ है और यही प्रणव है। इसका कारण है कि वह ओम् ऐसा उच्चारण करते हुए गमन करता है।[1]इसी लिए"ओम्" अक्षर की उद्गाता द्वारा उपासना करने लिए कहा गया है और यह बताया गया है कि इन चराचर प्राणियों का आश्रय पृथिवी का रस है क्योंकि पृथिवी में जल है। जल का रस औषधियाँ हैं क्योंकि औषधियाँ जल का ही परिणाम हैं। उनका रस पुरूष है क्योंकि पुरूष अन्न का परिणाम है।[2]ओम् का इतना अधिक महत्व कहा गया है कि इस अक्षर रूप उद्गीथ की उपासना करने पर सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति होती है।[3]

ओंकार के स्मरण से क्या प्राप्ति होती है, इस सन्दर्भ में हम प्रश्नोप - निषद् में उस स्थल को देख सकते हैं जिसमें सत्यकामसे यह प्रश्न किया गया कि मनुष्यों में जो पुरूष प्राण प्रयाणपर्यन्त इस ओंकार का चिन्तन करे, वह उससे किस लोक को

- -

1. अथ खलु य उद्गीथ: स प्रणवो य: प्रणव: स उद्गीथ इत्यसौ वा आदित्य उद्गीथ उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति । वही, 83

2. एषां चराचराणां भूतानां पृथिवी रसो गति: परायणमवष्टम्भ: । पृथिव्या: । अपामोषध्योरस:, अप्परिणामत्वादोषधीनाम् । तासां पुरूषो रस:, अन्न - परिणाममत्वात्पुरूषस्य । वही, पृ0 33 पर शांकर भाष्य

3. आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथ - मुपास्ते । वही , पृ0 40

जीत लेता है? तब इस प्रश्न के उत्तर में सत्यकाम से कहते हैं कि यह जो ओंकार है वही पर और अपर ब्रह्म है। अत: विद्वान् इसी से आश्रित होकर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[1]

ओंकार को आत्मरूप में भी संबोधित किया गया है और कहा गया है कि जैसे रथ की नाभि में अरे सम्मिलित रहते हैं, उसी तरह से सभी नाड़ियाँ शरीर में व्याप्त हैं। उन वृत्तियों के साक्षीभूत आत्मा का, जो "ॐ" रूप है, ध्यान करने से अज्ञान के उस पार जाने से कल्याण की प्राप्ति होती है।[2]

ओम जो यह अक्षर है, वह सभी भूत, वर्तमान् और भविष्य है। यह सब ओंकार है। इससे इतर जो है, वह ब्रह्म है। यही आत्मा अथवा ब्रह्म चतुष्पात् है।[3] और इन चारों पादों के माध्यम से इस ओंकार ब्रह्म का विस्तार से प्रतिपादन है।

आत्मरूप

आत्मा वा अरे दृष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्या-त्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्[4]– इस उदाहरण से यह संकेत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि उपनिषदें आत्म-दर्शन के प्रति जिज्ञासु हैं और आत्म-प्राप्ति ही उनका लक्ष्य है। इसलिए यदि हम उपनिषदों का अवलोकन करें तो

---

1. तस्मै स होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार: । तस्माद्विद्वानेते-नैवायतनेनैकतरमन्वेति। वही, पृ० 81-82-; 90-91

2. अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य:।
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान: ।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात् ।
ई० द० उ० , पृ० 62

3. सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात्। वही, पृ० 70

4. ई० द्वा० उ०, पृ० 306

यह देखते हैं कि आत्मा की चर्चा सभी उपनिषदों में की गई है और उसे अजर, अमर और चिरकालिक कहा गया है।

इस दृष्टि से प्रश्नोपनिषद् जब आत्मा विवेचन प्रस्तुत करती हैं तो आचार्य शंकर उस पर अपना भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार हृदयाकाश में और पुरीतत् नाड़ी में शयन करने वाले आत्मा का स्वयं प्रकाशत्व बाधित नहीं होता, क्योंकि वह उससे संबन्धित न रहने के कारण उससे पृथक् करके दिखाया जा सकता है उसी प्रकार अविद्या, कामना और कर्म आदि के कारण उद्भूत हुई वासनाओं से युक्त होने पर भी सम्पूर्ण कार्य-कारणों से पृथग्भूत दृष्टा आत्मा का स्वयं प्रकाशत्व निवृत्त नहीं किया जा सकता।[1] और इस रूप में आत्मा का स्वयं प्रकाशत्व संकेतित है।

आत्मा का क्या स्वरूप है इस विषय में कठोपनिषद् कहती है कि इन्द्रियों की अपेक्षा विषय श्रेष्ठ हैं, विषयों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से महान् आत्मा श्रेष्ठ है।[2] और इस वर्णन में एक रूपक इस तरह का दिया गया है जिसमें यह विवेचन किया गया है कि यह शरीर रथ और आत्मा रथी अर्थात् इस रथ रूप शरीर की स्वामी। बुद्धि इस रथ की सारथि और मन लगाम के रूप में है।[3]

---

1. यथा हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावान्ततो विविच्य दर्शयितु शक्यत इत्यात्मनः स्वयं ज्योतिष्टं न बाध्यन्ते। एवं मनस्यविद्याकामकर्म-निमित्तोद् भूतवासनावति कर्मनिमित्ता वासनाविद्यान्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविवित्क्तस्य दृष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयं ज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते। वही, पृ० 7।

2. इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
   मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ।। वही, पृ० 80

3. आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
   बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। वही, पृ० 74

एक स्थान पर यह विवेचन किया गया है कि वह आत्मा अंगुष्ठ मात्र परिणाम वाला है, सूर्य के समान प्रकाश स्वरूप है, किन्तु वही जब संकल्प और अहंकार से युक्त, बुद्धि तथा आत्मगुणों से युक्त होता है तबी वह जीवरूप में भी जाना जाता है।[1]

इस उल्लेख पर आचार्यों ने अपने अभिमत इस रूप में व्यक्त किए हैं जिनके अनुसार विज्ञानभगवान ने कहा है कि जीवात्मा की उपाधियाँ ही उसे परम आत्मा से भिन्न सिद्ध करती हैं। उपनिषद् ब्रह्मयोगी यह मानते हैं कि जीवात्मा उस कारण उपाधि की अपेक्षा कार्य उपाधि के कारण अवर है। उस परम आत्मा का रूप अन्य प्रकार का है।[2]

आत्मतत्व के निरूपण के सम्बन्ध में आरुणि और श्वेतकेतु के संवाद का सन्दर्भ भी उद्धृत किया जा सकता है जिसमें आरुणि श्वेतकेतु से कहते हैं कि यह जो अणिमा है, एतद्रूप यह सब है और यही सत्य तथा आत्मा है।[3]

इस पर आचार्य शंकर ने विस्तार से भाष्य किया है तथा यह प्रतिपादन किया है कि यह जो सत्संज्ञक अणिमा जगत् का मूल कही गई है यह ऐतदात्म्य है। इस संज्ञक आत्मा से यह सारा जगत् आत्मवान् है इसका आत्मा कोई संसारी नहीं है जैसाकि इससे पृथक् कोई दृष्टा नहीं है; इससे अन्य कोई श्रोता नहीं है। यह श्रुति से प्रमाणित होता है।

---

1. अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः
संकल्पाहंकारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव
आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः। श्वे०, पृ० 182
2. वही, पृ० 183 पर भाष्य
3. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ।
छा० उ०, पृ० 661

जिस आत्मा से यह पूरा कार्यजगत् आत्मवान है, वही सत् संज्ञक होने के कारण जगत् का प्रत्यक् स्वरूप-सत्त्व अर्थात् याथात्म्य है। जिस प्रकार गो आदि शब्द बैल, गाय आदि अर्थ में रूढ़ हैं उसी प्रकार उपपद रहित आत्मा शब्द प्रत्यगात्मा में रूढ़ है।[1]

और अन्ततः यह निष्कर्ष हुआ कि परम आत्मा का भोक्तृभाव के कारण बन्धन होता है तथा उसी आत्मा का ज्ञान होने से वह बन्धन मुक्त हो जाता है।[2]

अणु तथा महदात्मा

आत्मा के अणु तथा महत स्वरूप के सम्बन्ध में कठोपनिषद् एक स्थान पर कहती है कि आत्मा अणु से भी अणुतर और महत् से भी महत्तर है। यह प्राणी के हृदय-रूप गुहा में अवस्थित है। इस मूल कथन पर आचार्य शंकर ने जो भाष्य किया है उसमें उन्होंने अणु और महत् की सीमा को सीमायित करने की चेष्टा की है। उन्होंने लिखा है कि आत्मा श्यामकादि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर और पृथिवी आदि महत् परिमाण वालों से भी महत् है।[3]

- -

1. स यः सदाख्य एष उक्तोऽणिमाणुभावो जगतो मूलमैतदात्म्यमेतत्सदात्मा यस्य सर्वस्य तदेतदात्म तस्य भाव ऐतदात्म्यम्। एतेन सदाख्येनात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्। नान्योऽस्त्यात्मा संसारी। येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्। अतः स एव आत्मा जगतः प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्। आत्म-शब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मनि गवादि शब्दवन्निरूढत्वात्। अतस्तत्सत्वमसीति श्वेतकेतो। वही, पृ0 66। - 62 पर भाष्य
2. श्वेत0, पृ0 64
3. अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
 x x x x
 अणोः सूक्ष्मादणीया श्यामाकादेरणुतरः। महतो महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः। अणु महद् वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येनात्मवत्संभवति। क0 शां0, पृ0 63 एवम् शांकर भाष्य

इसी प्रकार से इसी उपनिषद् में अन्य स्थानों पर जो कहा गया है तदनुरूप भी आत्मा अणु तथा महत् रूप में कहा गया है। जैसे यह प्रतिपादन किया गया कि जो आत्मा शरीर में शरीर-रहित होकर तथा अनित्यों में नित्यों में नित्यरूप से रहकर प्रतिभासित होती है, वह महान् और सर्वव्यापक है।[1] और एक सन्दर्भ में यह कहा गया है कि यह पुरुष जो शरीर के मध्य भाग में स्थित है, अंगुष्ठ-मात्र है। यह पुरुष धूमरहित, ज्योतिवान् तथा सभी का ईश है।[2]

छान्दोग्योपनिषद् में यह प्रकरण है कि "यह मैं हूँ" इस प्रकार का अभिमान अनुभव करने वाला वैश्वानर आत्मा प्रादेशमात्र के परिणाम वाला है।[3] और इसका व्याख्यान करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा है कि द्युलोक से लेकर पृथिवीपर्यन्त प्रदेश ही उसका परिणाम है, इसलिए यह आत्मा प्रादेशमात्र है। अथवा शास्त्र द्वारा प्रकर्ष से आदिष्ट होते हैं इसलिए द्युलोक आदि प्रादेश हैं। उतने ही परिणामवाला होने से यह आत्मा प्रादेशमात्र है।[4]

एक स्थान पर आत्मा के अणुत्व और महत्व का निरूपण इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि प्रकाशस्वरूप, भास्वर पुरुष मनोमय है। जिस प्रकार से धान् अथवा जौ सूक्ष्म होता है, उसी परिमाणवाला यह आत्मा है।[5]

---

1. महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति । वही, पृ0 98
2. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

   x x x x

   अंगुष्ठमात्रः पुरुषो, ज्योतिरिवाधूमकः ।। क0 शां0 , पृ0 108
3. प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपासते । वही, पृ0 559
4. द्युलोकादिपृथिव्यन्त प्रदेशपरिमाणो वा प्रादेशमात्रः। प्रकर्षेण शास्त्रेणादिश्यन्त इति प्रादेशा द्युलोकादय एव तावत्परिमाणः प्रादेशमात्रः। शाखान्तरे तु मूर्धादि-श्चिबुक प्रतिष्ठ इति प्रादेशमात्रं कल्पयन्ति । छा0 उ0, पृ0 560पर शांकरभाष्य
5. ई0 छा0 उ0 , पृ0 390 - 391

इसी प्रकार से अन्य और भी सन्दर्भ ऐसे हैं जिनमें आत्मा की सूक्ष्मता और महत्ता का संकेत किया गया है।

इसी तरह आत्मा के चार पादों की कल्पना करके कहा गया है कि जो सप्त अंगवाला, उन्नीस मुखवाला है, वह वैश्वानर का प्रथम पाद है। और जो ओंकार रूप है, वह मात्राओं का आश्रय लेकर स्थित रहता है।[1]

ब्रह्म

बृह् धातु से निष्पन्न ब्रह्मशब्द का अर्थ है बर्धनशील। यह सबसे महान् और सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त है।[2]उपनिषद् सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग "वाक्" और "वाच्" के रूप में करते हैं।[3] इसके बाद यज्ञ की प्राप्ति का उद्देश्य सन्मुख रखकर जब ब्रह्म शब्द का प्रयोग किया गया तो ब्रह्म शब्द का प्रयोग यज्ञ परक हो गया।[4]

जब इन अर्थों से आगे बढ़कर जगत् और जगत् के कारण के रूप में ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ तो यह वर्णन किया जाने लगा कि दृश्य तथा अदृश्य, चर तथा अचर जो भी है, वह सभी ब्रह्म है। इसीलिए कहा गया कि यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। यह उसी से उत्पन्न होने वाला है उसी में लीन होने वाला है और

---

1. जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञा सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः. . . . . ।
   x x x x
   सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च. . . . ।
   ई0 द्वा0 उ0, पृ0 70-71।

2. वै0 सा0 सं, पृ0 196 ; छा0 उ0 , पृ0 303

3. स यो वाचं ब्रह्मेत्युपासते यावद्वाचो गतं तत्रास्य तथा कामचारो भवति।
   x x x x
   एष उ एव बृहस्पतिर्वाग् वैबृहती तस्या एष पतिस्तात्माद् बृहस्पतिः ।
   छा0 उ0 , पृ0 723; ई0 द्वा0 उ0, पृ0 272

4. छा0 उ0 , पृ0 323

उसी में चेष्टा करने वाला है।[1] भाष्यकार आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं कि यह नाम- रूप विकार को प्राप्त होने वाला, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषयभूत जगत ब्रह्म कारणरूप ही है।[2]

ब्रह्म के स्वरूप के सम्बन्ध में और उसकी महिमा के सम्बन्ध में केनोपनिषद् में विस्तार से प्रश्न किया गया है कि मन किससे प्रेरित हुआ अभीष्ट विषयों की ओर जाता है, किससे प्रयुक्त होकर प्राण चलता है, किसके द्वारा प्रेरित होकर यह वाणी बोलती हैं और कौन देव चक्षु तथा श्रोत्र को प्रेरित करता है? तब यह कहा गया है कि जो वाणी से प्रकाशित नहीं होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है उसी को ब्रह्म जानों। जिस देश-काल से परिच्छिन्न वस्तु की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है। जिसे मन से कोई मनन नहीं करता अपितु जिससे मन भी मनन किया जाता है उसे तू ब्रह्म जान। जिसे कोई नेत्र से नहीं देखता है अपितु जो नेत्रों को भी देखता है उसे तू ब्रह्म जान। इसी तरह से वहाँ कहा गया है कि जिसे कोई श्रोत्र से नहीं सुनता और जिसे कोई नासिका से नहीं सूंघता अपितु जिससे श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जाती है और घ्राण विषयों के प्रति जाता है उसे तूँ ब्रह्म जान।[1]

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । वही, पृ0 303
2. इदं जगन्नामरूपविकृतं प्रत्यक्षादिविषयं ब्रह्मकारणं बृहतमत्वात् ब्रह्म।
   वही, पृ0 303 पर शांकर भाष्य;
   के0 उ0 2/5-8
3. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
   यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।
   यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।· · ·· ·· · ·।।
   यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यति।· · · · · · · ·।।
   यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।· · · · · · ·।।
   यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।· · · ·।। के0 उ0 1/1-8

चक्षु आदि इन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर जो यह पुरुष अपने इच्छित पदार्थों की रचना करता हुआ जागता रहता है वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही अमृत है। ये सभी लोक उसी के आश्रित हैं। कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता निश्चय ही वह ब्रहम है।[1]

इस प्रकार से वर्णित ब्रह्म बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय हिरण्यमय कोश में विशुद्ध कला रहित ब्रहमतत्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और यही तत्व है; जिसका आत्मज्ञानी पुरुष हृदय में साक्षात्कार करते हैं।[2]

यह ब्रहम दिव्य और अचिन्त्य है। महान् और दिव्य है। वह आकाशादि सूक्ष्मतत्वों से भी अधिकतम सूक्ष्मतम है। वह अविवेकियों के लिए दूरतम है तथा विवेकशील प्राणियों के लिए अत्यन्त समीप है। वह चेतन प्राणियों के इस देह के भीतर उनकी बुद्धि रूपी गुहा में छिपा हुआ विद्वानों को दिखाई देता है।[3]

छान्दोग्योपनिषद् में शाण्डिल्य के कथन को उद्धृत किया गया है और यह प्रतिपादन किया गया है कि जो सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस और सम्पूर्ण जगत् को सभी ओर से व्याप्त करने वाला वाणी रहित और आग्रह रहित है।यही

---

1. य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन। एतद् वै तत् ।
   क0 शां0, पृ0 ।2।

2. हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
   तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तदात्मविदो विदुः ।। ई0 द्वा0 उ0, पृ0 63

3. बृहच्च तदिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च सूक्ष्मतरं विभाति ।
   दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।। ई0 द्वा0 उ0,पृ065

ब्रह्म है। इस देह का उत्क्रमण करने के बाद मैं निश्चय रूप से उसी ब्रह्म को प्राप्त करूँगा-ऐसा जिसका निश्चय होता है, वह ब्रह्म को प्राप्त करता है।[1]

इसी प्रकार से एक अन्य स्थल पर ब्रह्मप्राप्ति के तारतम्य में उसे भी ब्रह्मरूप हो जाने का विधान कहा गया है जो अकाम, निष्काम, आप्तकाम और आत्मकाम होता है। उस तत्त्वज्ञानी के लिंग देह रूप प्राणों का उत्क्रमण शरीरान्तर के लिए नहीं होता। वह एक शरीर त्याग कर अपने कर्म के अनुसार पुनः इस लोक में अपने कर्म भोग के लिए दूसरा शरीर प्राप्त नहीं करता। वह तत्त्ववेत्ता पुरुष ब्रह्मस्वरूप होता हुआ ब्रह्म को ही प्राप्त करता है।[2]

और अन्ततः कैवल्योपनिषद् का वह सन्दर्भ इसलिए दृष्टव्य है क्योंकि इस सन्दर्भ में जहाँ ब्रह्म की अनेक उपाधियों का कथन किया गया है वहीं पर यह संकेत भी किया गया है कि वह ब्रह्म शरीर के मध्य हृदय कमल में स्थित है। चिन्तनशील पुरुष उस मलरहित, शोक रहित, चिन्तन के अयोग्य, इन्द्रियों का अविषय होने से अव्यक्त, देश-काल एवं वस्तुगत परिच्छेद शून्य, अत्यन्त शान्त, अविनाशी,

---

1. सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तो वाक्यनादरएष म आत्मान्तर हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभि संभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सा - स्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः। ई० छा० उ० पृ० 162

2. यो कामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।

x x x x

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।। वही, पृ० 373-374

कल्याण स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। वह ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त से हीन है। रूप रहित, व्यापक और सच्चिदानन्द, ईश्वरों का ईश्वर, सर्वसमर्थ उपाधियों वाला अन्तः करण का साक्षी है। इस ब्रह्म के इस प्रतिपादन के क्रम में ही उपनिषद्-कार उसके अनेक नामों का भी उल्लेख करते हैं और कहते हैं कि यही, ब्रह्मा है, यही शिव है, यही इन्द्र के सहित सम्पूर्ण देवरूप है, यही अविनाशी, स्वयं प्रकाश है। यह विष्णु और हिरण्यगर्भ रूप है। यह काल, अग्नि और चन्द्रमा है।[1] इस रूप में ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन उपनिषदों में विस्तार से किया गया है।

पुरूष रूप ब्रह्म

ब्रह्म ही शिव है, ब्रह्म ही चन्द्र है, ब्रह्म ही अक्षर है, ब्रह्म ही स्वराट् है, ब्रह्म ही विष्णु, प्राण, काल और चन्द्रमा है।[2] इस प्रकार का कथन कैवल्योपनिषद् में किया गया है। इसी तरह ब्रह्म लक्षणों के सदृश ही पुरूष का कथन भी उपनिषदों में किया गया है। शुक्र लक्षण पुरूष का आख्यान एक स्थान पर इस प्रकार से है जिसमें यह संकेत है कि यह जो प्रेरण-चक्षुरादि इन्द्रियों के सुप्त हो जाने पर जागता रहता है

---

1. हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्यमध्ये विशदं विशोकम् ।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तअमृतं ब्रह्मयोनिम्।।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दरूपं अद्भुतम् ।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ।।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः ।।
सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
संपश्यन्ब्रह्म परमंयाति नान्येन हेतुना ।। ई० द्वा० उ०, पृ० 456-457

2. ई० द्वा० उ०, पृ० 457

और अविद्या के योग से अपने-अपने इच्छित अभीष्ट स्त्री आदि पदार्थों का निर्माण करता है वही शुक्र शुभ्र शुद्ध है, वही ब्रह्म है। उससे भिन्न अन्य कोई गुह्य नहीं है।[1]

पुरुष के परिमाण का विवरण देते हुए कठोपनिषद् कहती है कि जो पुरुष अंगुष्ठमात्र परिमाण वाला शरीर के मध्य में स्थित है उसे भूत भविष्य और वर्तमान का शासक जानो। निश्चय ही वही ब्रह्म तत्व है। यह अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान है। वह त्रिकाल में रहेगा।[2]

यह पुरुष देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूंघने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष है। हे सौम्य ! जिस अक्षर में अग्नि आदि समस्त देवों के सहित विज्ञानात्मा प्राण और पृथिव्यादि भूत सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित होते हैं। उसे जो जानता है, वह सर्वत्र पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है।[3]

पुरुष सर्वत्र है, सर्व व्यापक है और अग्नि होत्रादि रूप कर्म तथा ज्ञान-रूप तप पुरुष ही है। यह सब अमृतरूप ब्रह्म ही है। जो हृदय- स्थित इस पुरुष रूप

---

1. य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति। कथम् ? कामं कामं तं अभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादय जागर्ति पुरुषो यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद् ब्रह्म नान्यद् गुह्यं ब्रह्मास्तिम क० शां, पृ० 121 पर आचार्य शंकर का भाष्य।
2. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
   ईशानो भूतभव्यस्य . . . . ।।
   x x x x
   अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
   ईशानो भूतभव्यस्य . . . . ।। क० शां, पृ० 108
3. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः । स परेऽक्षरे आत्मनि संप्रतिष्ठते ।
   x x x x
   विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
   ई० द्वा० उ० , पृ० 48-49
4. पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
   एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ।। वही, पृ० 61

ब्रह्म को जानता है वह इस लोक में अविद्या ग्रन्थि का छेदन कर देता है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में भी पुरुष के स्वरूप का कथन इस प्रकार है कि यह जो नेत्रों के मध्य दीखता है, वही ऋक्, वही साम, वही उक्थ, वही यजु और वही ब्रह्म है।[2] और इसी प्रकार से पुरुष का कथन ब्रह्म के रूप में है तथा व्यापकता को व्यक्त करने के रूप में बृहदारण्यकोपनिषद् में भी दृष्टिगत होता है।[3]

आत्मा, पुरुष तथा ब्रह्म की समरूपता

यद्यपि उपनिषदें आत्मा, पुरुष और ब्रह्म शब्द का प्रयोग पृथक्-पृथक् रूप में करती हैं और यत् किंचित् मात्रा में इन तीनों के लक्षण भी पृथक-पृथक देती हैं किन्तु अधिकतम मात्रा में ऐसा प्रतीत होता है जैसे इन तीनों की स्थिति बहुत कुछ एक जैसी हो और इन तीनों का स्वरूप भी सदृश हो।

इस सन्दर्भ में जब आत्मा का निरूपण किया जाता है तो यह कहा जाता है कि आत्मा सम्पूर्ण भूत जात की अन्तरात्मा है। अग्नि इसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र तथा वेद जिसकी प्रसिद्ध वाणी हैं। वायु प्राण

---

1. पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ।। वही, पृ06।
2. अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद् ब्रह्म ।
वही0 पृ0 100
3. ई0 छा0 उ0 , पृ0 389

है और समस्त जगत् जिसका हृदय है। जिसके चरणों से पृथिवी प्रकट हुई, यही अन्तरात्मा है।[1]

इसी तरह से यह भी कहा गया है कि जो एक मात्र देव है, सभी प्राणियों में गूढ़भाव से रहता है, सर्वत्र व्यापक है, सभी प्राणियों का आत्मा है। सभी कर्मों का अध्यक्ष, सभी भूतों में निवास करने वाला, साक्षी, चैतन्य, केवल और निर्गुण है।[2]

इसी प्रकार से जब उपनिषदें पुरुष के लिए विवरण देती हैं तब भी वे इसी प्रकार का वर्णन करती हैं जिस प्रकार का कथन आत्मा के लिए किया गया है। जैसे पुरुष के स्वरूप का कथन करते हुए यह कहा गया है कि यह पुरुष अंगुष्ठमात्र वाला होकर हृदय के मध्य में अवस्थित है। यह धूम रहित, ज्योति के सदृश है। यह भूत, भविष्य और वर्तमान का शासक है। यह आज भी है और कल भी होगा।[3]

कठोपनिषद् के ही एक अन्य उद्धारण में हम यह देख सकते हैं कि अंगुष्ठमात्र, पुरुष, जिसे अन्तरात्मा के रूप में भी कहा गया है, को विशुद्ध और अमृतमय बताया गया है।[4] और इस स्वरूप प्रतिपादन को मुण्डकोपनिषद् में इस तरह से प्रतिपादित किया गया है कि यह पुरुष दिव्य, आकार रहित, सर्वत्र विद्यमान अजन्मा है।

---

1. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ।।
ई0 द्वा0 उ0, पृ0 59-60

2. एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।। वही, पृ0 452

3. अंगुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य · · · · · · ।। क0 शां0 , पृ0 108

इसी से सम्पूर्ण पृथिवी उत्पन्न होती है।[1] इसी तरह जनक ने जब पूँछा, आत्मा कौन है तो याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो प्राणों में बुद्धि वृत्तियों के भीतर विज्ञानमय ज्योति स्वरूप है वह पुरुष है। यह वह प्रवृत आत्मा है वह शरीर में आत्मभाव से स्थित होती है।[2] तब हम यह देख सकते हैं कि इस उद्धरण में पुरुष और आत्मा का नाम एक साथ लिया गया है जिससे इन दोनों की एक रूपता प्रकट होती है।

पुरुष और आत्मा की अपेक्षा ब्रह्म शब्द का प्रयोग अधिकतम मात्रा में किया गया है। किन्तु यह भी बहुत अधिक मात्रा में दृष्टिगत होता है कि इसका स्वरूप वर्णन इन दोनों जैसा ही है। जैसे वह ब्रह्म महान्, दिव्य और अचिन्त्यरूप है, वह आकाशादि वस्तुओं से सूक्ष्मतर है। अविवेकियों के लिए वह दूर और ज्ञानियों के लिए समीप है।[3] यह ब्रह्म सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस और सम्पूर्ण जगत् को सभी ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी-रहित और आग्रह-रहित है।[4]

एक अन्य स्थान पर ब्रह्म की स्वरूपावस्थिति, इस तरह से कही गई है कि बुद्धि वृत्ति के प्रकाशमय-हिरण्यमयकोश में विशुद्ध कला रहित ब्रह्मतत्व विद्यमान है। वह सम्पूर्ण ज्योतियों की विशुद्ध ज्योति स्वरूप है और यही तत्व वह तत्व है जिसका साक्षात्कार आत्मज्ञानीजन करते हैं।[5]

---

1. ई० छा० उ० , पृ० 59
2. वही, पृ० 361
3. बृहच्च तदिद्व्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
   दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।। ई० छा० उ०,पृ०65
4. वही, पृ० 162
5. हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
   तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः।। वही, पृ० 63

और कैवल्योपनिषद् पुरुष और आत्मा के स्वरूप-प्रतिपादन की तरह से कि जो सर्वभूतों की आत्मा को आत्मा में देखता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। जो सबका आत्मा, सम्पूर्ण संसार का आधार है और जो सूक्ष्म और नित्य है, वह मैं हूँ और तू है।[1]

आत्मवाद का औपनिषदिक स्वरूप

जब उपनिषद् यह घोषणा करती है कि जो भूमा है, वही सुख है, जो अल्प है उसमें सुख नहीं है; इसलिए अल्प को छोड़कर भूमा की ही जिज्ञासा करो-[2] तब यह स्पष्ट हो जाता है कि उपनिषदें उस एक तत्त्व को जान लेना चाहती हैं, देख लेना चाहती हैं जो पूर्ण है और जिसमें अल्पता नहीं है। किन्तु यह उनका देखना अथवा अनुभव करना सहसा नहीं हुआ न केवल किसी विश्वास के आधार पर ही इसे स्वीकार किया गया। इसके विरीत अनन्तकालतक ऋषियों ने इस सृष्टि पर, इसके क्षणिकत्व और अनित्यत्व पर विचार करके इसके एक ऐसे मूल को खोजना चाहा जो कभी विकृत न होता हो और जो सम्पूर्ण तथा अनश्वर हो।

इस दृष्टि से जब औपनिषदिक ऋषियों ने विचार करना प्रारम्भ किया तो पहले उन्होंने प्रकृति के उन तत्त्वों पर विचार किया जो अपेक्षाकृत व्यापक और सक्षम हैं। इनमें से जल, वायु, अग्नि और आकाश तत्त्वों के विषय में विचार किया

1• यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यातनं महत् ।
सूक्षामात्सूक्ष्मतरं नित्यं सतत्वमें त्वमेव तत् ।। वही, पृ0 458

2• छा0 उ0 , पृ0 785

गया और इनमें से कभी किसी को और कभी किसी को सृष्टि का प्रथम तत्त्व स्वीकार किया गया। जैसे जल को कहा गया कि वह पूर्व में था।[1] अथवा कभी कहा गया कि अग्नि भुवन में व्याप्त है।

बाद में यह अनुभव होने लगा कि ये तत्व भी सीमित और अनित्यात्मक हैं इसलिए इनसे आगे बढ़कर सत् और असत् रूप का, प्राण और जीव का पुरुष और ईश्वर का विचार किया जाने लगा। और यह कहा जाने लगा कि सत् स्वरूप देवता ने ईक्षण किया और विचार किया कि मैं जीवात्मा रूप से नाम और रूप की अभि-व्यक्ति करूँ। तब वह लाल, कृष्ण और शुक्लरूपों में परिवर्तित हो गया।[2] और आगे जाकर इस जीव से भी महत्तत्त्व आत्मा की कल्पना की गई तब यह कहा गया कि सदा साथ रहने वाले दो पक्षी हैं। वे एक ही शरीर रूप वृक्ष में रहते हैं। एक अपने कर्म रूपी पिप्पल फल का स्वाद लेता है और दूसरा केवल उस कर्म का दर्शक होता है।[3]

धीरे-धीरे आत्मा का कथन पुरुष और ब्रह्म के रूप में होने लगा और यह प्रतिपादित किया जाने लगा कि यह पुरुष ही अग्नि है। इसकी वाक् ही समिध

- -

1. आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म।
   x x x x
   अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
   एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव।।
   x x x x
   आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा ।
   बृ० उ० , पृ 389; क० शां० ,पृ०122;
   छा० उ० , पृ० 939

2. सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवीनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। छा० उ० , पृ० 606

3. द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। श्वे०, पृ० 150

है। प्राण धूम है, जिह्वा ज्वाला है, चक्षु अंगारे और श्रोत्र विस्फुलिंग हैं।[1] इसी पुरुष रूप आत्मा तत्त्व से ही इस विराट् सृष्टि की संरचना हुई है और इसी से अनुप्राणित होकर यह सारा संसार चलता है।

और इस रूप से विचार करके जब आत्मारूप की प्रतिष्ठा उपनिषदों में हुई तो उसे आत्मा, पुरुष और ब्रह्म रूप से कहकर इस तरह से प्रतिष्ठापित किया गया जिसमें यह कहा गया कि सभी कुछ, जो इस जगत् में दृष्टिगत है और जो नहीं भी दृष्टिगत है, वह सभी ब्रह्म् ही है।[2] और अन्य उद्धरणों में यह कहा गया है कि आत्मा सम्पूर्ण भूत जगत की आत्मा है। अग्नि इसका मस्तक है, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं, दिशाएँ श्रोत्र तथा वेद इसकी प्रसिद्ध वाणी है। वायु प्राण और सम्पूर्ण जगत् इसका हृदय है।[3]

इस रूप में हम देख सकते हैं कि उपनिषदों ने शनैः-शनैः अपने लक्ष्य के अनुरूप सृष्टि के पदार्थों का विवेचन करते हुए आत्म तत्त्व का विवेचन किया और आत्मा के शाश्वत तथा दिव्य स्वरूप का निर्धारण किया।

---

1. पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरंगाराः श्रोत्रं विस्फुलिंगाः। छा० उ०, पृ० 49।
2. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छा० उ०, पृ० 323
3. अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे· · · · · · ·।
   वायु प्राणो हृदयं · · · · · · · · · · · · ·।।
   ई० छा० उ०, पृ० 59-60

तृतीय अध्याय

(आत्मवादी दर्शन और उनमें आत्मा का स्वरूप)

तृतीय अध्याय

****
****
******
****
**

(आत्मवादी दर्शन और उनमें आत्मा का स्वरूप)

आत्मवादीदर्शन; न्यायदर्शन तथा न्याय का अर्थ, रचनाएँ, पदार्थ, प्रमाण, प्रमेय, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, मनस्, आत्मा, परमात्मा या ईश्वर, मोक्ष, वैशेषिक दर्शन तथा इसकी रचनाएँ, पदार्थ विचार, द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, आत्मा, मुक्ति और उसका स्वरूप, सांख्ययोग के आचार्य और रचनाएँ सत्कार्यवाद, प्रकृति, पुरुष, पुरुष बहुत्व, पुरुष का साक्षित्व, बन्ध और मोक्ष, सांख्ययोग का भेदाभेद, ईश्वर, बन्ध और मोक्ष, मीमांसादर्शन तथा इसके आचार्य, पदार्थ विचार, आत्मा, ईश्वर, मोक्ष स्वरूप, उत्तरमीमांसा।

तृतीय अध्याय

****

{आत्मवादी दर्शन और उनमें आत्मा का स्वरूप}

आत्मवादी दर्शन :

भारतीय परम्परा में दार्शनिक चिन्तन का एक दीर्घकालीन इतिहास है। वेदकाल से ही लेकर इन प्रश्नों पर विचार किया जाने लगा था कि इस सृष्टि के पदार्थों का कितना अस्तित्व है और कितने समय तक के लिए इनकी अवस्थिति है। यह मनुष्य तथा मनुष्येतर सृष्टि जाल का आदि स्त्रोत क्या है और क्या इनका संचालन सूत्र किसी शक्ति विशेष के हाथ में है, वह कौन है जो इसका नियंत्रण करता है क्या कोई है भी अथवा नहीं?

इन सभी प्रश्नों पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया और उपनिषदों के माध्यम से विविधवाद पश्चात्काल में विकसित हुए । इनमें से कुछ दार्शनिक इस प्रकार के थे जो इस सृष्टि का सृजन संयोगत: मानते थे और यह कहते थे कि इन भौतिक तत्वों से निर्मित की यहीं तक की सत्ता है कुछ यह कहते थे कि जीव इसी जीवन तक सीमित न होकर पुनर्जन्म भोगता है किन्तु नित्य सर्वगत और शाश्वत् कोई तत्व नहीं है। और इस रूप मे ऐसे दार्शनिकों ने जीव, ब्रह्म और आत्मा जैसे नित्य तत्त्व को अस्वीकार कर दिया, जिन्हें हम अनात्मवादी दार्शनिक के नाम से अभिहित कर सकते हैं । इसके विपरीत वे दार्शनिक अपेक्षाकृत भारतीय परम्परा में अधिक प्रतिष्ठित और दीर्घज्ञात हुए जिन्होंने सत्ता की शाश्वतता को स्वीकार किया और किसी न किसी रूप में आत्मा का प्रतिपादन किया। इनमें सांख्य, योग , न्याय वैशेषिक , पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा मुख्यरूप से गिने जा सकते है;

यद्यपि इनके आत्म-स्थापन में भी अनेक प्रकार की विसंगतियाँ देखी जा सकती हैं।

न्यायदर्शन तथा न्याय का अर्थ -

न्यायदर्शन अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक मान्य और महत्वपूर्ण दर्शन के रूप में कहा गया है। इसके लिए यह कहा गया है कि यह विद्या सभी विद्याओं के लिए प्रदीपवत् हैं, सभी कर्मों के लिए उपाय है और सभी धर्मों के लिए आश्रयभूत है।[1] ग्रन्थ के इस उद्धरण पर आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री ने लिखा है कि अन्य दूसरी विद्याओं के स्वरूप का प्रकाशक होने के कारण अन्धकार में पदार्थों को दिखाने के समान यह दीपक है। सम्पूर्ण कर्मों का उपाय रूप है। क्योंकि दूसरे शास्त्र द्रव्य,गुण तथा कर्म पदार्थों का आश्रय करके ही विधि तथा निषेधों का वर्णन करते हैं, इसलिए उन सभी शास्त्ररूपी धर्मों का यह आश्रय है।[2]

दार्शनिक विकास के क्रम में यद्यपि न्याय और वैशेषिक दर्शन का विकास पृथक् रूप में हुआ किन्तु मध्यकाल में दोनों के संयुक्त कर दिया गया। इस स्थिति में वैशेषिक के पदार्थ और न्याय का प्रामाण्यवाद दोनों को एकत्र कर उसे तर्कशास्त्र या न्यायशास्त्र से अभिहित किया गया।[3]

उपनिषद् जब यह कहती है कि " आत्मा वा अरे द्रष्टव्य:

---

1. प्रदीप: सर्वविद्यानामुपाय: सर्वकर्मणाम्।
   आश्रय: सर्वधर्माणां..............।। न्या0द0,पृ0 15
2. वही,पृ015 पर हिन्दी टीका
3. भा0न्या0 शा0 ,पृ0 11

श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:,तब उसका अभिप्राय आत्म मनन से होता है और दर्शन की शब्दावली में तर्क को मनन कहा गया है।[1] और मनन के बिना आत्मा के विषय में असम्भावना की निवृत्ति नहीं हो पाती।[2] इस दृष्टि से आत्मज्ञान के लिए तर्कशास्त्र की महत्ता स्वत: सिद्ध है। विद्वानों ने यह भी मत व्यक्त किया है कि तर्कशास्त्र की दो प्रधान शाखायें हैं - वैशेषिक तथा न्याय । इन दोनों में वैशेषिक प्रमेय प्रधान है और न्याय प्रमाण प्रधान है।[3]

यह न्याय क्या है,इस प्रश्न का समाधान करते हुए शास्त्रकार ने कहा है कि प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा करना न्याय है सम्पूर्ण प्रमाणों के व्यापार से अर्थ के ज्ञान को न्याय कहते हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणमूलक प्रतिज्ञादि पंचावयवरूप प्रमाणों से अर्थ की परीक्षा को न्याय कहते हैं। प्रत्यक्ष तथा आगम प्रमाण के अविरुद्ध अनुमति ज्ञान का कारण ही अनुमान प्रमाण होता है और उसी को अन्वीक्षा कहते हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष तथा आगम के द्वारा देखे हुए विषय के पश्चात् ईक्षण को अन्वीक्षा कहते हैं और उससे प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र को आन्वीक्षिकी , न्यायविद्या और न्यायशास्त्र भी कहते हैं। [4]

- -

1• युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं मननं तु तत् । प0द01/53

× ×× × ×× ×

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।

उपासनैव क्रियते श्रवणान्तरागता।। न्या0कु0,पृ01९

2• तर्कें सम्भावनार्थस्य ....| प0द07/102

3• न्या0द0,पृ018

4• क: पुनरयं न्याय:? प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय:। प्रत्यक्षागमाश्रित-मनुमानं सान्वीक्षा। प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षित स्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या- न्यायशास्त्रम् । वही,पृ0 8 पर टीका

रचनायें :-

परम्परा और साहित्यिक अनुशीलन के आधार पर यह सर्वसम्मति से स्वीकृत है कि गौतमसूत्र ही न्यायशास्त्र का प्रथम और व्यवस्थित ग्रन्थ है। इसके पूर्व यद्यपि न्याय सम्बंधी सिद्धान्त यत्र-तत्र प्राप्त थे, किन्तु व्यवस्थित अथवा पुस्तक के रूप में उनका संकलन प्राप्त नहीं था। गौतमसूत्र ग्रंथ भी प्रारम्भ में अनेक भ्रान्तियों और विवादों से घिरा था किन्तु इसके प्रसिद्ध भाष्यकार वाचस्पतिमिश्र ने न्यायसूची निबन्ध नामक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने न्यायसूत्र के सूत्रों, अध्यायों, आह्निकों, प्रकरणों, पदों तथा अक्षरों की संख्या का उल्लेख किया। इनके अनुसार न्याय सूत्र में 5 अध्याय, 10 आन्हिक, 84 प्रकरण, 528 सूत्र, 196 पद तथा 8385 अक्षर हैं।[1] किन्तु कुछ इतिहासकार इस प्रकार के मत की स्थापना करते हैं जिसके अनुसार न्याय सूत्र के प्रणेता गौतम नहीं अक्षपाद को माना जाता है।[2]

न्यायसूत्र पर अपना भाष्य प्रस्तुत करने वाले आचार्य वात्स्यायन ऐसे दूसरे रचनाकार हैं जिन्होंनें अपनी विद्वता से न्यायशास्त्र की एक परम्परा को गति प्रदान की। इस भाष्य की रचना करने वाले इस आचार्य का समय ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी कहा जाता है। इसके पश्चात् इसी भाष्य के ऊपर उद्योतकराचार्य ने अत्यन्त विस्तृत वार्तिक लिखा। इस ग्रन्थ में उन्होंनें अपनी प्रौढ़ मति के अनुरूप बौद्धमत का खण्डन पाण्डित्यपूर्ण रीति से किया है। यह इनका कार्य छठवीं शताब्दी का माना जाता है।[3]

1· भा०द०, पृ० 179

2· भा०द०इ०

3· भा०द०, पृ० 180

उधोतकर के वार्तिक पर वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका नाम की टीका लिखी और दसवीं शताब्दी में उदयनाचार्य ने इस पर परिशुद्धि नाम की विस्तृत व्याख्या लिखी। इसी के साथ न्यायकुसुमाञ्जलि तथा आत्म तत्वविवेक भी न्यायशास्त्र के इनके प्रौढ़ ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार से ग्यारहवीं शताब्दी के आचार्य जयन्त भट्ट एक प्रौढ़ नैयायिक थे जिन्होनें न्यायमंजरी नाम की प्रसिद्ध रचना की।

इसी समय के लगभग बारहवीं शताब्दी में गँगेश उपाध्याय नाम के एक प्रसिद्ध आचार्य हुए। तत्वचिन्तामणि नामक एक नवीन शैली का ग्रन्थ लिखा और इसी समय से नव्य न्याय की प्रतिष्ठापना हुई । तत्वचिन्तामणि नव्यन्याय का आदि ग्रन्थ माना गया है और इसके पूर्व न्यायशास्त्र के जिन ग्रन्थों की रचना हुई थी वे सभी प्राचीन न्याय के नाम से प्रसिद्ध थे।

तत्व चिन्तामणि को आधार बनाकर बर्धमान ने प्रकाश नामक टीका, पक्षधर मिश्र ने आलोक नामक टीका तथा वासुदेवमिश्र, रूचिदत्त मिश्र और गदाधर आचार्य आदि ने अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत कीं। और इस प्रकार न्यायदर्शन-ग्रन्थों की अभिवृद्धि हुई।

पदार्थ:-

पदार्थ शब्द का यथार्थ परक अभिप्राय क्या है, यह तो इदमित्थं रूप से नहीं कहा जा सकता किन्तु तर्कदीपिका में जो परिभाषा दी गई है, उसके अनुसार जो वाणी का विषय हो सके उसे पदार्थ कहते हैं।[1] अन्यत्र पदार्थ को ज्ञान का विषय कहा गया है।[2]

---

1. अभिधेयत्वं पदार्थ सामान्य लक्षणम् । वही, पृ0 8

2. ज्ञेयत्वं प्रमिति विषयत्वं हि पदार्थत्वम् । सि0च0, पृ0 19

आचार्य वात्स्यायन ने अपने भाष्य में पदार्थ के सम्बंध में लिखा है कि सत् का सद्भाव तथा असत् का असद्भाव ही पदार्थों का तत्व होता है क्योंकि यह सत् है, यह सत् है, भावरूप अमुक पदार्थ है। इस प्रकार जाना जाता हुआ जैसा उसका स्वरूप है, यदि उसके विपरीत न हो तो वह उस भाव-रूप पदार्थ का तत्व कहलाता है और यह असत् है, यह असत् है इस प्रकार अभाव-रूप से जाना हुआ जैसा उसका अभावरूप है यदि उसके विपरीत न हो तो वह उस अभाव पदार्थ का तत्व कहलाता है।[1]

पदार्थ की इस प्रकार की परिभाषा देकर न्यायसूत्रकार उनका नाम और उनकी संख्या का आकलन भी प्रस्तुत करता है। इस गणना में प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति तथा निग्रहस्थान नामक सोलह पदार्थों की गणना की गई है।[2]

इन पदार्थों की गणना करते हुए शास्त्रकार ने यह कहा है कि प्रमाणादि षोडश पदार्थों के तत्वज्ञान से स्वर्गापवर्गादिरूप निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। इस श्रेयस् स्वर्गादि और अपवर्ग को साथ ही साथ कहा गया है।

---

1. किंपुनस्तत्त्वम् ? सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः। सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतम-विपरीतं तत्त्वं भवति। न्या० द०, पृ० 3

2. प्रमाणप्रमेयसंशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्तावयव तर्क निर्णयवादजल्पवितण्डा हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रह स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। वही, पृ० 4

प्रमाण :-

न्याय की दृष्टि से यथार्थानुभव चार प्रकार का कहा गया है, प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति तथा शब्द। इन चारों प्रकारों के अनुभवों के निमित्त इनके कारणभूत चार प्रमाण न्याय दर्शन में स्वीकार किये गये हैं और वे हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवम् शब्द।[1]

प्रमाण शब्द का क्या अभिप्राय हैं, इस सम्बंध में भी भाष्यकार वात्स्यायन ने यह मत दिया है कि सम्पूर्ण प्रमाण उपलब्धि के साधन होते हैं ऐसा प्रमाणानि संज्ञा निर्वचन से जानना चाहिए। भाष्यकार इसे अपने शब्दों से "प्रमीयतेऽनेनेति- कहकर यह प्रतिपादित करते हैं कि जिससे जाना जाता है इस कारण अर्थ में अभिहित होने से यह प्रमाण है।[2]

न्यायदर्शन में अन्य दार्शनिकों की अपेक्षा प्रमाण स्वीकृति में मत भिन्नता भी है जैसे चार्वाक् प्रत्यक्षवादी होने के कारण केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। वैशेषिक तथा बौद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। मीमांसक अर्थापति और अनुपलब्धि को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार कर लेते हैं । पुराणों में सम्भव और ऐतिह्य दो प्रमाण और अधिक माने गये हैं।[3]

- -

1. यथार्थानुभवश्चतुर्विधः- प्रत्यक्षानुमित्युपमिति शाब्दभेदात्। तत्करणमपि चतुर्विधम्- प्रत्यक्षानुमानोपमान शाब्दभेदात्। त॰सं॰,पृ0 29

x x x x

प्रत्यक्षानुमानोपमान शब्दाः प्रमाणानि । न्या0द0 ,पृ0 23

2. प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम् । वही,पृ0 24

3. भा0 न्या0शा0, पृ0 152

प्रमेय-

अन्नंभट्ट जब यथार्थानुभव और अयथार्थानुभव की परिभाषा करते हैं तो वे उस पदार्थ में इसी प्रकार के अनुभव को यथार्थानुभव कहते हैं। जैसे "रजत" में यह "रजत" है इस प्रकार का ज्ञान यथार्थानुभव है। यही प्रमा है।[1]

न्यायसूत्रकार यद्यपि सोलह पदार्थों की गणना करते हैं और उन्हें प्रमेय मानते हैं किन्तु आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, अर्थ, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दु:ख तथा अपवर्ग नामक पदार्थों को विषय प्रमेय के रूप में कहते हैं।[2] आचार्य इस सन्दर्भ का व्याख्यान इस रूप में करते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म आदि अनेक प्रमेय संसार में हैं जो जानने योग्य हैं किन्तु जिन पदार्थों के मिथ्या ज्ञान के कारण आत्मा को संसार बन्धन प्राप्त होता है ऐसे आत्मा, शरीर, इन्द्रियादि द्वादश पदार्थों का ज्ञान नि:श्रेयस् प्राप्ति के लिए आवश्यक है। इसलिए षोडश पदार्थवादी न्यायमत में द्वादश पदार्थ ही प्रमेय हैं- इससे यह भी सिद्ध हो सकता है।[3]

इसमें भी भाष्यकार ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि इन द्वादश पदार्थों में भी आत्मा की विशेषता यह है कि यह सुख-दु:ख को सम्पूर्णता से जानता है इसलिए यह सर्वज्ञ है और इसलिए यह सभी से विशिष्ट और अंतिम रूप से जानने योग्य है।[4]

---

1. तद्वति तत्प्रकारकोऽनुभवो यथार्थानुभव:। यथा रजते इदंरजतमितिज्ञानम्; सैव प्रमा इत्युच्यते । त0सं0, पृ0 28
2. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमन: प्रवृत्तिदोष प्रेत्यभावफलदु:खापवर्गास्तु प्रमेयम्। न्या0द0, पृ0 42
3. वही0, पृ0 42 पर हिन्दी व्याख्या ।
4. वही, पृ0 42-43

"आत्मनो भोगायतनं शरीरम्"- इस परिभाषा के अनुरूप आत्मा के लिए भोग-प्राप्ति का आश्रय शरीर है- इस प्रकार का लक्षण शरीर के लिए किया जाता है।[1] सूत्रकार इससे पृथक् हटकर एक अन्य परिभाषा इस प्रकार देते हैं कि हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहार रूप चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थ के आधार को शरीर कहते हैं।[2] टीकाकार कहते हैं कि आत्मा को संसार में होने वाले सम्पूर्ण सुख तथा दुख के अनुभव होने का आश्रय शरीर है। हित की प्राप्ति तथा अहित निवृत्ति रूप चेष्टा इन्द्रियों तथा अर्थ विषयों का आधार लक्षण है।[3]

और जब यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि शरीर चेष्टा का आश्रय कैसे है तो उसका समाधान यह किया जाता है कि प्राप्त करने की इच्छा अथवा त्याग करने की इच्छा के विषय पदार्थ को उद्देश्य कर प्राप्ति की अथवा त्याग की इच्छा से प्रेरणा किए हुए प्राणी की प्राप्ति तथा त्याग के उपायों के आचरण रूप समीहा को चेष्टा कहते हैं। वह जिसमें होती है, उसे शरीर कहते हैं।[4]

- -

1• भा०न्या०शा० से उद्धृत, पृ० 317

2• चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् । न्या०द०,पृ० 47

3• वही, पृ० 47 पर हिन्दी टीका

4• कथं चेष्टाश्रयः? ईप्सितं जिहासितं वार्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठान लक्षणा समीहा चेष्टा,सा यत्र वर्तते तच्छरीरम् । यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वाविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छीरीरम्। वही , पृ० 47

इन्द्रिय -

जो शब्द से अतिरिक्त उद्भूत विशेषगुण का आश्रय न हो साथ ही ज्ञान के कारण भूत मनस् के संयोग का आश्रय हो, उसे इन्द्रिय कहते हैं,[1] न्याय दर्शन में सूत्रकार का यह अभिमत है कि घ्राण, रसन,चक्षु, त्वक् तथा श्रोत्र ये इन्द्रियाँ हैं जो पृथिवी आदि पंच महाभूतों से उत्पन्न होती हैं।[2] जो शरीर में संयुक्त होता हुआ संस्कार तथा दोषों से भिन्न साक्षात् वैषयिक ज्ञान के साधन होते हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं ऐसा इन्द्रियों का सामान्य लक्षण है।[3]

भाष्यकार इन इन्द्रियों के कार्य व्यापार का भी संकेत करते हैं और लिखते हैं कि जिससे सूँघा जाता है वह घ्राण कहाता है,क्योंकि इस इन्द्रिय से आत्मागन्ध गुण को ग्रहण करता है। छह प्रकार के रसों का जिस इन्द्रिय के द्वारा आत्मा रसन करता है वह रसनेन्द्रिय है। इसी तरह से आत्मा जिससे देखता है, वह चक्षुरिन्द्रिय, जिससे स्पर्श करता है। वह त्वक् इन्द्रिय, जिससे सुनता है वह श्रोत्रेन्द्रिय कही जाती है।[4]

---

1. शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वमिन्द्रियत्वम् । भा० न्या०शा० से, पृ० 317
2. घ्राणरसनचक्षु स्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः। न्या०द०,पृ० 48
3. वही, पृ० 48 पर हिन्दी टीका ।
4. जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति। रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृहणातीति। चष्टे नेनेति चक्षु रूपं पश्यतीति। त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक्। तदुपचारः स्थानादित ।श्रृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृहणातीति। एवं समाख्या निर्वचन सामार्थ्याद्बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियणीति। वही ,पृ० 48-49

बुद्धि -

अन्नंभट्ट ने समग्र व्यवहार-हेतु रूपी गुण को बुद्धि अथवा ज्ञान कहा है। इस बुद्धि और ज्ञान को उन्होंने स्मृति तथा अनुभव के रूप में दो प्रकार का बताया है। इसमें से जो संस्कार से जन्य ज्ञान है उसे स्मृति और उससे भिन्न ज्ञान को अनुभव ज्ञान कहा गया है।[1]

सूत्रकार जब बुद्धि का विश्लेषण करते है और उसकी परिभाषा देते हैं तब वे लिखते हैं कि बुद्धि, उपलब्धि तथा ज्ञान ये सभी अनर्थान्तर पद दूसरे पदार्थ नहीं हैं।

इस पर आचार्य अपने अर्थ में यह लिखते हैं कि सांख्यदर्शन में सत्व, रज तथा तम तीन जड़ गुण हैं उनमें विकार्य होने के कारण बुद्धि जड़ है। किन्तु आत्मा की चैतन्य छाया पड़ने से वह चेतन सी प्रतीत होती है। इस मान्यता को न्याय शास्त्र मान्य नहीं करता और भाष्यकार वात्स्यायन यह मत व्यक्त करते हैं कि इस बुद्धिरूप प्रमेय पदार्थ के लक्षण का वर्णन करने वाले सूत्र के वाक्य से इस सांख्यमत खण्डनरूप विषय का भी प्रकाश होता है।[3] अर्थात् आचार्य अपने सूत्र से बुद्धि,उपलब्धि और ज्ञान की एकता की स्थापना से सांख्य मत के साथ अपने मत की भिन्नता का प्रतिष्ठापन करते हैं।

---

1. सर्वव्यवहार हेतु र्गुणोबुद्धिर्ज्ञानम् । सा द्विविधा-स्मृति:अनुभवश्च। संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृति:,तद्भिन्नं ज्ञानमनुभव:। त0 सं0 ,पृ028
2. बुद्धिरूपलब्धि र्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् । न्या0द0,पृ0 5।
3. नाचेतनस्य करणस्त बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति। तद्धि चेतनं स्यात्,एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति। प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थ प्रकाशनमुपपत्तिसामार्थ्यादिति। वही,पृ0 52

मनस् :-

सुख-दुख आदि की प्राप्ति की साधन इन्द्रिय मन है वह प्रत्येक आत्मा में नियत होने से अनन्त है तथा परमाणुरूप एवं नित्य है।[1] सूत्रकार मन के सिद्धि के लिए अनेक लिङ्ग देखते हैं वे यह लिखते हैं कि एक काल में अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन का साधक है।[2]भाष्यकारवात्स्यायन इसकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि स्मरणादि ज्ञान जो वाह्य चक्षुरादि इन्द्रियों के निमित्त से नहीं होते, उनका दूसरा कोई कारण अवश्य हो सकता है । इसी तरह से घ्राण आदि वाह्येन्द्रियों तथा उनके गन्ध आदि विषयों के संयोगादि रूप सन्निकर्षों के बर्तमान रहते एक काल में अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते ;इससे अनुमान किया जाता है कि उन-उन इन्द्रियों में संयुक्त तथा सहायक दूसरा निमित्त अवश्य है जो व्यापक नहीं है तथा जिसके समीप न रहने के कारण ज्ञान उत्पन्न नहीं होता एवम् जिसके समीप रहने से ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि संयोग की अपेक्षा न कर वाह्य इन्द्रियों के सन्निकर्ष को ज्ञान का कारण माना जाए तो अनेक ज्ञान एक काल में उत्पन्न होने लगेगें।

---

1. सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः । तत्त्व प्रत्यात्मनियतत्वादनन्तं परमाणु रूपं नित्यञ्च। त०सं० ,पृ० 18
2. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् । न्या०द०,पृ० 53
3. अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तनिमित्ता भवितुमर्हन्ति । युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते तेनानुमीयते अस्ति..............................।
मनः संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति । वही, पृ० 53-54

आत्मा-

आत्मसिद्धि के लिए सूत्रकार यह प्रस्तुति करते हैं कि जिस पदार्थ को चक्षुरिन्द्रिय देखती है उसी पदार्थ को त्वगिन्द्रिय स्पर्श करती है और इस रूप में जिस पदार्थ का देखने से ग्रहण हुआ, उसी प्रकार से त्वगिन्द्र से उसी पदार्थ का स्पर्श-ग्रहण हुआ। इस प्रकार से एक ही पदार्थ को विषय करने वाले ये दोनों ज्ञान एक कर्ता से अनुसंधान किये जाते हैं।[1] सूत्रकार आत्मा का गुण स्मृति ज्ञान मानकर यह भी प्रतिपादन करते हैं कि स्मरण ज्ञान आत्मा का गुण है। वे कहते हैं कि उस स्मृति के आत्मा का गुण होने के कारण इन्द्रिय तथा विषयों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता है।

आत्मा की सिद्धि में सूत्रकार क्रम से इन्द्रियातिरिक्त तथा देहातिरिक्त आत्मा की सिद्धि विस्तार से करते हैं और यह निष्कर्ष देते हैं कि आत्मा इन सबसे पृथक् है क्योंकि ये सभी अनित्यतात्मक और आत्मा के लिङ्ग हैं। इसके साथ ही यह तर्क भी दिया गया है कि प्रत्येक क्रिया कर्ता के बिना सम्भव नहीं है एवं कर्ता की क्रिया कारण के बिना असम्भव है और कारण - व्यापारकर्ता के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए कारण रूप आत्मा इन्द्रिय - भिन्न है।[3]

---

1. दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति, यं चास्पार्क्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति। ....तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति सोऽर्थान्तरभूत आत्मा। न्या०द०, पृ० 295
2. तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः। वही, पृ० 309
3. भा०न्या०शा०, पृ० 66-67

अन्नंभट्ट आत्मा के स्वरूप का निर्धारण करते हुए यह लिखते हैं कि ज्ञान के अधिकरण अर्थात् आश्रय को आत्मा कहते हैं। वह आत्मा दो प्रकार का है एक जीवात्मा और दूसरा परमात्मा। इनमे से परमात्मा सर्वज्ञ और एक है, जबकि जीवात्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न और व्यापक है।[1] न्याय सूत्रकार ने भी आत्मा के लिंग बताए हैं और कहा है कि आत्मा का प्रत्यक्ष न होने से इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख,दुख,ज्ञान ये आत्मा के साधक लिंग है।[2]

भाष्यकार ने इस सूत्र पर विस्तार से भाष्य किया है और यह प्रतिपादित किया है कि किसी पदार्थ को ,यह सुख जनक है ऐसा जानकर बार-बार उस पदार्थ को देखकर उसे प्राप्त करने की अभिलाषा की व्याप्ति का होना इच्छा है और यही इच्छा करने वाला आत्मा है। इसी तरह से दु:ख के कारण पदार्थों में जो द्वेष होता है वह भी नित्य तथा दर्शन एवं प्रतिसंधान करने वाले भिन्न आत्मा को सिद्ध करता है। इसी तरह से माला चन्दनादि जो पदार्थ संसार में सुख के कारण प्रसिद्ध हैं उसी जाति के दूसरे माला आदि पदार्थों को देखता हुआ प्राणी उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिए प्रयत्न करता है। इस भाँति यह प्रयत्न नामक विशेष गुण भी देखे हुए का दर्शन तथा स्मरण करने वाले के बिना नहीं हो सकता है और इसी रूप

---

1. ज्ञानाधिकरणमात्मा। स द्विविधः -परमात्मा जीवश्च। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव । जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।
तo संo , पृo 19

2. इच्छाद्वेष प्रयत्न सुख दु:खज्ञानन्यात्मनो लिङ्गम् ।
न्याoदo,पृo 44

में भाष्यकार सुख और दुख की स्थितियों से आत्मा की सिद्धि का प्रयत्न करते हैं।[1]

न्यायशास्त्र के आचार्यों ने आत्मा की स्थापना के पश्चात् उसकी विभुता के लिए भी अनेक तर्क दिये हैं और यह कहा कि आत्मा यदि लघु परिमाण वाली होगी तो वह सम्पूर्ण शरीर के सुख और दुख का ज्ञान नहीं कर सकेगी । इसी के साथ अणु परिणामी आत्मा के होने पर अनेक ज्ञानकर्ताओं के होने की भी सम्भावना हो सकती है। इसी तरह आत्मा मध्यम परिमाणी भी नहीं हो सकती है क्योंकि मध्यम परिमाण होगा - शरीर परिमाण। और शरीर परिमाण ह्रास तथा वृद्धि वाला होगा इसलिए आत्मा विभुपरिमाणवाली ही सिद्ध होती है।[2]

---

1. यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान्, तज्जातीयमेवार्थम् पश्यन्नुपादातुमिच्छति, सेयमादातुमिच्छा एक स्यानेकार्थ दर्शिनो दर्शन प्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिंगमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। एवमेकस्याने-कार्थदर्शिनो दर्शन प्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः। यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुं प्रय-.... मन्तरेण न स्यात्। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। .... तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमित्ये-वमुपपन्नमस्त्यात्मेति। न्या०द०,पृ० 45-46

2. भा० न्या०शा० ,पृ० 68-69

परमात्मा या ईश्वर -

तर्क संग्रहकार अन्नं भट्ट जब आत्मा का लक्षण करते हैं तो वे उसे द्विविध रूप में प्रतिपादित करते हैं- एक आत्मा और दूसरा परमात्मा और तब वे आत्मा के लिए जीव तथा परमात्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग करते हैं। इस प्रतिपादन में वे लिखते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ और एक है जबकि जीव अनेक हैं। वे जीव प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न हैं।[1]

सूत्रकार ने ईश्वर की सिद्धि में अपनी रीति से तर्क दिए हैं और यह मत व्यक्त किया है कि संसार के प्राणियों को इष्ट विषय में प्रयत्न करने पर भी उसकी कोई इच्छा पूर्ण नहीं होती है जिससे अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि प्राणियों के किये कर्मों का फल प्राप्त होना दूसरे के अधीन है और यह जिसके अधीन है, वही ईश्वर है।[2] इस सूत्र पर भाष्यकार भी अपना यही अभिमत देते हैं कि संसार में सुख की इच्छा करने वाले प्राणी इष्टसुखफल को अवश्य प्राप्त करते हैं- ऐसा दृष्टिगत नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि प्राणिमात्र के कर्मों की फल-प्राप्ति किसी दूसरे के हाथ में हैं। वह जिसके हाथ में है, वही ईश्वर है।[3]

- -

1. स द्विविधः परमात्मा जीवश्च। तत्र ईश्वरः सर्वज्ञः परमात्मा एक एव। जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च । वही, पृ० 19

2. ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् । न्या०द०,पृ० 477

3. पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानु- मीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः। तस्मादीश्वरः कारणमिति। वही, पृ० 478

आचार्य उदयन ने अपनी न्याय कुसुमांजलि में विस्तार से ईश्वर की सिद्धि की है। उन्होनें अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह तर्क दिया है कि स्वर्ग और अपवर्ग की कामना मनीषी जन करते हैं। क्योंकि ये सभी इसकी कामना करते हैं और उसके लिए परमात्मा की उपासना करते हैं । अत: सिद्ध है कि परमात्मा है।[1] फिर इस जगत में कौन ऐसा मनीषी है जो ईश्वर को नहीं मानता। उपनिषद् के अनुयायी ईश्वर को शुद्ध, बुद्ध और मुक्तस्वरूप मानते हैं। कपिल के अनुयायी आदि विद्वान् सिद्ध के रूप में मानते हैं। पतञ्जलि के अनुयायी क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से रहित ईश्वर कहते हैं। पाशुपत मत वाले निर्लेप तथा स्वतंत्र के रूप में, शैव शिव के रूप में, वैष्णव पुरुषोत्तम के रूप में, पौराणिक पितामह के रूप में, याज्ञिक यज्ञपुरुष के रूप में, सौगत सर्वज्ञ के रूप में, दिगम्बर निरावरण के रूप में, मीमांसक उपास्य के रूप में तथा कर्मकार उसे विश्वकर्मा के रूप में स्वीकार करते हैं।[2]

- -

1. स्वर्गापवर्गयोर्मार्गमामनन्ति मनीषिण: ।
   यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरूप्यते।। वही ,पृ0 11-12

2. इह यद्यपि यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमाना:, शुद्धबुद्ध स्वभाव इत्यौपनिषदा: आदि विद्वान् सिद्ध इति कापिला:, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टो निर्माण कायमधिष्ठाय सम्प्रदाय प्रद्योतको ऽनुग्राहकश्चेति पातञ्जला:, लोकवेदविरुद्धैरपि निर्लेप: स्वतंत्रश्चेति महापाशुपता: ....
   ....,......
   तस्मिन्नेवं जातिगोत्रप्रवरचरण कुलधर्मादिवदा संसारं प्रसिद्धानुभावे भगवति भवे सन्देह एव कुत:। वही, पृ0 14-19

आचार्य उदयन एक और तर्क देते हैं कि विश्व का कार्यत्व ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण है। इसी तरह से परमाणु से द्व्यणुक की उत्पत्ति भी ईश्वर की साधक है। विश्व के समस्त पदार्थ यथावत्धारित होते हैं । यह भी ईश्वर की ईश्वरता का परम कारण है। एवमेव विश्व के समस्त पदार्थों का विनाश होना भी ईश्वर में कारणता का प्रतिपादन करता है। वेद को प्रामाणिक मानना इसलिए ईश्वरत्व के साधन में हेतु है क्योंकि बिना कर्ता के हम किसी भी ज्ञान को प्रामाणिक नहीं कह सकते। वेदों की अर्थपूर्ण वाक्य योजना उस कर्ता के कुशल और सर्वज्ञ होने की प्रामाणिकता है। द्व्यणुक की उत्पत्ति दो परमाणुओं के संयोग से होती है। उसका परिमाण भी दो परमाणुओं के आधार पर ही उत्पन्न होता है। इसलिए इस उत्पादन में संख्या विशेष का ज्ञाता कोई अवश्य है और वह ईश्वर ही हो सकता है।[1] इस प्रकार प्रतिपादन पर आचार्यों ने टिप्पणी की है जो इस प्रकार है।[2]

---

1. कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः।।
न्या०कु० ,पृ० 479

× × × ×

2. कार्येत्यादिमूलं तदर्थश्च कार्यपदं भावपरं तेन क्षितिः सकर्तृका कार्यत्वादित्यनुमानमुक्तम्।....... . . . . अत्रापि भावपरतया परमाणुकर्म प्रयत्नजन्यं कर्मत्वादित्यनुमानमुक्तं।........ संख्यापदमपि परमाणुद्व्यणुकवृत्तिद्वित्वत्रित्वपरं भावपरमेव तेन परमाणुद्वित्वंद्व्यणुकत्रित्वं वा अपेक्षाबुद्धिजम् अनेकवृत्तिसंख्यात्वादित्यनुमानमुक्तम्। . . . . .इत्यादिः। वही, पृ० 479-484

मोक्ष-

मोक्ष (अपवर्ग) का विश्लेषण करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि दु:ख ,जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञानों में से उत्तर -उत्तर पदार्थों की निवृत्ति होने पर और उनके पूर्व-पूर्व पदार्थों का अपाय होने से अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त होता है।[1] इसका अभिप्राय यह है तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान रूप मूल कारण के निवृत्त होने पर उससे रागद्वेषादि दोषों के निवृत्त हो जाने से पुण्य-पाप रूप दस प्रकार की वाचिक; मानसिक तथा शारीरिक - प्रवृत्तियों के निवृत्त होने पर उसके कार्य रूप जन्म से अपवर्ग अर्थात् मोक्ष होता है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने मिथ्याज्ञानों में आत्मा से लेकर अपवर्ग नामक प्रमेय तक प्रमेय पदार्थों में अनेक प्रकार के मिथ्याज्ञान का होना कहा है। जैसे किसी के मत से आत्मा नहीं है अथवा शरीरादि अनात्मभावों में ही आत्मा की प्रतीति होना आत्म पदार्थ में मिथ्याज्ञान होना है । इसी प्रकार से दु:खात्मक पदार्थ को सुखात्मक मानना एवं विनाशी पदार्थों को अविनाशी समझना। स्त्री,पुत्र,गृह आदि जो किसी प्रकार से रक्षा करने में समर्थ नहीं है, उन्हें अपना रक्षक मानना मिथ्याज्ञान की प्रतीति है। इसी प्रकार विस्तार से मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति होवे-ऐसा निरूपित किया है।[2]

---

1. दु:खजन्मप्रवृत्ति दोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग:। न्या0द0,पृ0 17

2. तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तप्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्तते। आत्मनि तावत् नास्तीति,अनात्मनि आत्मेति,दुखे सुखमिति,अनित्ये नित्यमिति······ ···················अपवर्गे भीष्म: खल्वयं सर्वकार्योपरम: सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान्सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यमममपवर्गं रोचयेदिति। वही, पृ0 17-18

भाष्यकार वात्स्यायन ने अपने भाष्य में यह भी विवेचन किया है कि शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की कर्म-प्रवृत्ति जन्म में हेतु है। यदि कोई जीव दान, परित्राण,परिरक्षण ,सत्य ,हित, प्रिय, स्वाध्याय,दया, स्पृहा,श्रद्धा आदि से समन्वित है तो यह उसकी सत् प्रवृत्ति है। इसके विपरीत यदि उसकी प्रवृत्ति है तो यह उसकी असत् प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति जन्म का कारण है और जन्म होने पर दुखानुभूति भी अवश्यम्भावी है। इसलिए सिद्धान्त यह है कि अपवर्ग रूप प्रमेय पदार्थ में पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिए जिस अपवर्ग प्रमेय में आध्यात्मिक,आधिभौतिक और आधिदैनिक दु:ख नष्ट हो जाते हैं, उसे कौन बुद्धिमान प्राणी प्राप्त नहीं करेगा।[1]

अपवर्गावस्था में ज्ञान उत्पन्न होने पर आधाररूप शरीर तथा इन्द्रियों का उनके उत्पत्ति के कारण धर्म तथा अधर्मरूप दृष्टि के न होने से , कारण न होने से कार्य न होने के कारण मुक्तावस्था में अभाव है। इसलिए सभी प्रकार के दु:खों से विमोक्ष अपवर्ग है।[2] इस प्रकार से मुक्तात्मा सभी प्रकार के अज्ञान तथा क्लेश कर्मों से मुक्त हो जाती है जो एक प्रकार से उसके लिए बंधन स्वरूप है, अतएव दूसरे शब्दों में अज्ञात्मक बन्धन से आत्मा की मुक्ति ही उसकी मुक्त्तावस्था कही जा सकती है और यही न्यायदर्शन को अभिप्रेत है।

---

1. अपवर्गे -शान्त: खल्वयं सर्वविप्रयोग: सर्वोपरमोऽपवर्ग:, बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुखोच्छेदं सर्वदुखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति,तद्यथा मधुविषसम्पृक्तान्नमना-देयमिति,एवं सुखं दु:खा-नुषक्तमनोदेयमिति। न्या०द०,पृ० 2।
2. तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गो। तत्र यदुक्तमपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्ग इति तदयुक्तम्। तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षो अपवर्ग:। वही, पृ० 587; त०भा० ,पृ० 91-92

वैशेषिक दर्शन तथा इसकी रचनायें-

न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन समानतन्त्र होने के कारण प्राचीन समय में न्याय और वैशेषिक का समान व्यवहार ही होता था कि बाद के समय में न्यायदर्शन और वैशेषिक दर्शन पृथक्-पृथक् रूप से कहा जाने लगा। वैशेषिक दर्शन को कणाद दर्शन ,औलूक्य दर्शन, उलूक तथा पैलुक दर्शन आदि नामों से भी व्याहृत किया जाता रहा है किन्तु वैशेषिक दर्शन नाम ही इसका अत्यधिक प्रचलित नाम है।[1] और यह भी मत अधिक मान्य है, अन्य मतों की अपेक्षा कि इस दर्शन में "विशेष" पदार्थ की विशिष्ट स्वीकृति होने के कारण ही इसका नाम वैशेषिक दर्शन पड़ा है।[2]

जैसा कि इस दर्शन का नाम कणाद हुआ है ,उसी के अनुरूप इसके आदि प्रवर्तक आचार्य कणाद को माना जाता है। इनके अन्य नाम काश्यप,उलूक,औलूक्य आदि भी पाये जाते हैं। कणाद को कणाद क्यों कहा जाता है और इन्होंने वैशेषिक सूत्रों की रचना कब की, इसका "इदमित्थम्" उत्तर तो नहीं दिया जा सकता है किन्तु अन्य अनेक व्याख्याओं में से एक यह है कि "कणान् परमाणून् अन्ति सिद्धान्तत्वेन आत्मसात् करोति इति कणाद: अर्थात् परमाणुओं का विवरण जो सिद्धान्त रूप में करता है , वह कणाद है।[3] दर्शन की इस परम्परा में सूत्रों की रचना के पश्चात् प्रशस्तपाद-भाष्य, व्योमशिवाचार्य की व्योमवती, उदयन की किरणावली,वल्लभाचार्य की न्यायलीलावती तथा रघुनाथ शिरोमणि की दीधिति मुख्य रचनायें हैं।

---

1. वै०द०अ०,पृ० 6
2. भा०द०,पृ० 229
3. वै० फि० ,पृ० 6

पदार्थ विचार-

वैशेषिक दर्शन प्रमुख रूप से पदार्थों का विवेचन प्रमेय रूप से करता है और प्रमाणों के द्वारा प्रमेय की सिद्धि करता है। विवेचक यह कहते हैं कि ज्ञेयत्व, अभिधेयत्व तथा अस्तित्व पदार्थत्व के सभी समानधर्म है। ज्ञेयत्व का अर्थ है ज्ञान योग्यता विश्व के सभी विषय घट-पट आदि जिनका अस्तिव है , वे ज्ञेय अथवा ज्ञानयोग्य हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि विषयों में प्रकाशित होने की क्षमता है। अतएव अज्ञेय विषय की सत्ता नहीं स्वीकृत की जा सकती है। अस्तित्व उसी का है,जो सत् है,जो सत् है वह ज्ञेय है और जो ज्ञेय है वह अभिधेय है। इसी दृष्टि से पदार्थ का लक्षण करते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि अभिधेयत्व ही पदार्थ का लक्षण हैं।[1]

वैशेषिक आचार्य ने मोक्ष-प्राप्ति के सूचक सूत्र में छह पदार्थों का आकलन प्रस्तुत किया है। ये पदार्थ हैं:- द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय।[2] इन छह पदार्थों के अतिरिक्त अभाव नामक पदार्थ की कल्पना भी वैशेषिक दर्शन में की गई है और यह कहा गया है कि जैसे "चैत्रोऽस्ति" कहने पर यहाँ चैत्र है इस प्रकार प्रतीति होती है। उसी तरह चैत्रो नास्ति" कहने पर चैत्र नहीं है। इस प्रकार के अभाव की प्रतीति होती है अन्यथा नास्ति का क्या अभिप्राय होगा यदि अभाव पदार्थ नहीं माना जायेगा।[3]

द्रव्य -

वैशेषिक दर्शन में सप्तपदार्थों की गणना में सर्वप्रथम स्थान द्रव्य का ही है । इसकी प्रथम अवस्थिति का प्रमुख कारण तो यही है कि यह

---

1. अभिधेयत्वं पदार्थसामान्यलक्षणम् । त० दी० ,पृ० 2

2. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानान्निश्रेयसम् । वै० सू० 1/1/4

4. वै० द० ,पृ० 5-6

अन्य सभी पदार्थों का आधारभूत है। द्रव्यों में जो द्रव्य सत्तात्मक रूप से दृष्टिगत होते हैं वे प्रत्यक्ष द्रव्य और जो सत्तात्मक रूप से दृष्टिगत नहीं होते वे अनुमेय द्रव्य कहे गए हैं। आचार्य यह मन्तव्य प्रकट करते हैं कि द्रव्यों में कोई न कोई गुण विद्यमान रहता है जिससे वे अनुमेय हो जाते हैं । ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है जिससे कोई न कोई गुण विद्यमान न होवे। कुछ दार्शनिक आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं कि जिसमें चलनात्मक क्रिया रहती है, वह द्रव्य है । वैशेषिक सूत्रकार आचार्य ने द्रव्य का जो लक्षण दिया है तदनुरूप गुण तथा क्रिया जिसमें समवाय सम्बंध से रहते हो, उसे द्रव्य कहते हैं।[1] कुछ अन्य दार्शनिक द्रव्य का लक्षण एक अन्य प्रकार से करते हैं और यह मत प्रतिपादित करते हैं कि द्रव्य वह है जो गुणाश्रित हो। अर्थात् जिस द्रव्य में गुण आश्रयभूत होकर विद्यमान हों, वह द्रव्य है।[2] आकाश में क्रिया और गुण नहीं रह सकते हैं अथवा द्रव्य प्रथमक्षण उत्पन्न होने के पूर्व किसभाँति गुण-युक्त होगें- यह शंका उपस्थिति करने पर वैशेषिक विस्तार से इसका परिहार करते हैं और द्रव्यत्व का लक्षण निरूपित करते हैं।

द्रव्यों की गणना में न्याय तथा वैशेषिक ने इनकी संख्या नौ बताई है। ये हैं - पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल ,दिक्,आत्मा, तथा मन । यद्यपि अन्य मतान्तरों में इनकी संख्या निर्धारण में मतभेद है।

---

1. क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्य लक्षणम् । वही 1/1/5

2. गुणाश्रयों द्रव्यम् । न्या0 ली0 ,पृ0 752

3. तत्र द्रव्याणि-पृथिव्यप्तेजोवायवाकाशकाल दिगात्मामनांसि नवैव।

तoसं0, पृ0 12

गुण :

वैशेषिक सूत्रकार ने गुण का लक्षण देते हुए लिखा है कि द्रव्याश्रितत्व, निर्गुणत्व और निष्क्रियत्व ही गुण के लक्षण हैं।[1] एक अन्य दार्शनिक यह मत व्यक्त करते हैं कि द्रव्य एवं कर्म से भिन्न जो सामान्य जातिवाला पदार्थ होता है, उसे गुण कहते हैं। द्रव्य ,गुण और कर्म तीनों पदार्थों में जाति को स्वीकार किया गया है। इस प्रकार गुण वह है जो द्रव्यत्व व्यापकता का अवच्छेदक तथा सत्ताभिन्न जातिवाला होता है।[2]

महर्षि कणाद ने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न के नाम से सत्रह गुणों का कथन किया है।[3] किन्तु सूत्रकार की गुण सम्बंधी इस संख्या को बाद में बढ़ा दिया गया है और यह कहा गया कि सूत्रकार के मूल सूत्र में "च" शब्द समुच्चायक है । इसलिए गुण सत्रह होने पर भी गुरुत्व, द्रवत्व , स्नेह, संस्कार , अदृष्ट (धर्म तथा अधर्म) एवं शब्द से मिलकर चौबीस हो जाते हैं।[4]

---

1. द्रव्याश्रय गुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्।
वही, 1/1/16

2. द्रव्यत्वव्यापकतावच्छेदक सत्ताभिन्नजातिमान् गुणः ।
वै0 द0 ,पृ0 63

3. वै0सू0 1/1/6

4. च शब्देन अत्रानुक्ताः गुणत्वेन लोके प्रसिद्धाः गुरुत्वादयः सप्त समुच्चिताः। न्या0 क0 ,पृ0 27

x x x x

अभ्युपगमसिद्धान्तन्यायेन अन्येऽपिसप्त सिद्धगुणभावाःतत्र तत्र तेषां व्युत्पादनात् । किर0, पृ0 20

इन चौबीस गुणों के अन्तर्गत ही लोक में प्रसिद्ध अन्य गुणों का अन्तर्भाव भी इन्हीं के अन्तर्गत गिनाया गया है और इस लिए यह कहा गया है कि शौर्य, दान, दाक्षिण्य आदि जो लोकप्रसिद्ध गुण हैं वे इन्हीं चौबीस गुणों के अन्तर्गत गिने जा सकते हैं।[1]

एक स्थान पर इस प्रकार का कथन किया गया है कि गुण सभी द्रव्यों में रहता है। कोई भी द्रव्य गुण से रहित नहीं होता है। चौबीस प्रकार के गुणों में से कोई न कोई गुण द्रव्य में रहता ही है। जैसे वायु में नौ गुण रहते हैं ,तेज में ग्यारह गुण होते हैं । जल, पृथिवी और जीवात्मा में चौदह गुण रहते हैं । दिशा और काल में पाँच गुण रहते हैं। आकाश में छह गुण रहते हैं । ईश्वर तथा मन में आठ गुण रहते हैं।[2] इस प्रकार से कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो गुणविहीन होवे।

---

1. ये तु शौर्योदार्यदाक्षिण्यौग्र्यादय:, तेऽत्रैवान्तर्भवन्ति । शौर्य बलवतोऽपि परस्य पराजयाय प्रत्युत्साह:। स च प्रयत्न विशेष एव। सततं सन्मार्गवर्तिनी बुद्धि: औदार्यम्। पर दु:ख प्रहाणेच्छा कारूण्यम्। तत्त्वाभिनिवेशिनी बुद्धि: दाक्षिण्यम्। औग्र्यमात्मन्युत्कर्ष प्रत्यय: इत्येवमादि:। न्या०क० ,पृ० 27-28

2. वायोर्नवैकादश तेजसो गुणा:,जलक्षिति प्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयो: पञ्चषडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च ।।
वै०द०, पृ० 64

कर्म :-

सूत्रकार ने कर्म का लक्षण करते हुए लिखा हैकि एक द्रव्यवाला अगुणवाला ,संयोग विभागों में अनपेक्ष कारण वाला कर्म है।[1] आचार्यों ने कर्म के सम्बंध में यह प्रतिपादन किया है कि एक द्रव्य में एक काल में एक ही कर्म रहता है और एक कर्म एक ही द्रव्य में रहता है। यदि एक द्रव्य में एक काल में अनेक कर्म माने जायें तो वे कर्म परस्पर विरुद्ध स्वभाव अथवा समान स्वभाव के होगें। इसी प्रकार से "अगुणम" का अभिप्राय यह है कि गुण की सत्ता कर्म में नहीं होती ,क्योंकि कर्म गुण का समवायि-कारण नहीं हो सकता। इसलिए कर्म को गुण शून्य कहा जाता है। इसी प्रकार कर्म संयोग तथा विभाग की उत्पत्ति में स्वोत्तरभावी भाव-पदार्थ की अपेक्षा के बिना ही कारण होता है। कर्म से जो विभाग की उत्पत्ति होती है उसमें कर्म अपने से उत्तर काल में उत्पद्यमान किसी भी पदार्थ की उपेक्षा नहीं कर सकता।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने समानरूप से कर्म के पाँच भेद निरूपित किये हैं और अन्य सभी का समावेश इन्हीं के अन्दर किया है। ये पाँचों हैं- उत्क्षेपण (अर्थात् वस्तु का ऊपर की ओर उछालना) अपक्षेपण (नीचे की ओर फेंकना), आकुञ्चन(सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) तथा गमन (अर्थात चलना)[2]

कर्म की उत्पत्ति सदा द्रव्य में ही होती है और उसमें उत्पन्न होकर वह द्रव्य में ही रहता है।इसलिए कर्म का आश्रयभूत स्थान भी द्रव्य ही है। साथ ही कर्म का कारण भी द्रव्य ही है।

---

1. एक द्रव्यमगुणम् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति कर्म लक्षणम्। वै0सू01/1/17

2. उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चन प्रसारणगमनानि पञ्च कर्माणि। त0सं0,पृ013

सामान्य-

"नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वम्"- अर्थात् जो नित्य होते हुए भी अनेक में समवाय सम्बंध से रहता है उसे सामान्य कहते हैं।[1] इसका अभिप्राय यह हुआ कि किसी वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों अथवा विभिन्न वस्तुओं में एकाकार प्रतीति और अनुगत व्यवहार जाति के कारण होता है। जैसे अनेक मनुष्यों में अनुस्यूत व्यवहार मनुष्यत्व जाति सामान्य लक्षण है। वैशेषिकों की भाषा में इसी को सामान्य कहा गया है।

यह सामान्य द्रव्य,गुण तथा कर्म में समानरूप से वर्तमान होता है। इसीलिए सूत्रकार आचार्य ने द्रव्यादि त्रिक वृत्ति को सामान्य सत्ता कहा है।[2] और इसे द्रव्य सत्, गुण सत् तथा कर्म सत् के रूप में प्रतिपादित किया गया है। द्रव्य,गुण तथा कर्म इन तीनों में "सत्" इस प्रतीति की एकता के कारण तीनों में रहने वाली सत्ता भी एक ही है।[3] द्रव्यादि त्रय के अतिरिक्त पदार्थ में किसी भी प्रकार की सामान्य की स्थिति नहीं रहती है।

सामान्य को दो प्रकार का कहा गया है- एक पर सामान्य तथा दूसरा अपर सामान्य।[4] पर सामान्य का अभिप्राय है अधिक देश वृत्ती सामान्य और अल्पदेशवृत्ति होने के कारण दूसरा सामान्य है अपर सामान्य किन्तु घटत्व, पृथिवीत्व आदि की अपेक्षा व्यापक होने से द्रव्यत्व आदि

---

1. त०सं० ,पृ० 13
2. वै०सू० 1/2/7
3. वही 1/2/17
4. परमपरञ्चेति द्विविधं सामान्यम् । त०सं० ,पृ०13

को पर सामान्य भी कहा जा सकता है। औपचारिक रूप में द्रव्यत्व आदि सामान्य को परापर सामान्य भी कहा जा सकता है।

विशेष -

यह वैशेषिक दर्शन की नवीन और अपनी विशिष्ट कल्पना है कि उन्होंने अन्य दार्शनिकों से भिन्न एक विशेष पदार्थ की कल्पना की है। इस दर्शन के आधार पर यह कहा जाता है कि सभी परमाणु परस्पर भिन्न हैं। इन परमाणुओं की परस्पर भिन्नता में जो प्रयोजक तत्व है, उसी का नाम विशेष है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एक परमाणु में बर्तमान विशेष अन्य परमाणुओं में बर्तमान विशेषों से भिन्न है। विशेषों के इस भेद का प्रयोजक कोई विशेषान्तर नहीं अपितु स्वयम् विशेष ही है। इसीलिए विशेष को स्वतो व्यावृत्त कहा जाता है।

सूत्रकार आचार्य ने विशेष का लक्षण देते हुए कहा है कि अन्त्य होते हुए भी नित्य द्रव्यों में रहने वाला पदार्थ विशेष है।[1] इस सूत्र में आए हुए अन्त्य शब्द की व्याख्या आचार्य अपने अपने दृष्टिकोण से भिन्न- 2 रूप में करते हैं। कुछ आचार्य यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि अन्त्य शब्द का अभिप्राय है नित्य द्रव्य वृत्ति; जबकि अन्त शब्द का अभिप्राय है नित्य - द्रव्य/आचार्य उदयन अपनी वृत्ति में यह प्रतिपादित करते हैं कि अन्त्य

1• अन्त्येभ्यो विशेषेभ्य: । वै०सू० 1/2/6

2• मि०वि० 1/2/6; उप० 1/2/6

शब्द अन्तिम का सूचक है जिसकी अपेक्षा विशेषान्तर नहीं होता है।[1]

द्रव्यों की अनन्तता के कारण विशेष को भी अनन्त माना गया है। इसीलिए अन्नं भट्ट ने तर्क संग्रह में लिखा है कि नित्य द्रव्यों पृथिवी, जल, तेज आदि में रहने वाले विशेष अनन्त है।[2]

आत्मा -

वैशेषिक दृष्टि से आत्मा का स्वरूप वही है, जो न्यायदर्शन में स्वीकृत किया जा चुका है। इस रूप में "ज्ञानाधिकरणमात्मा" कह कर ज्ञान के आश्रयभूत तत्व को आत्मा माना गया है।[3] ज्ञान के इसी गुण को चेतना शक्ति भी कहा गया है। जिस द्रव्य के अन्दर यह ज्ञानात्मक चेतना शक्ति प्राप्त है, उसी ज्ञानात्मक चेतनाशक्ति का आधार भूत द्रव्य आत्मा है, वह नित्य है, इस आत्मा की नित्यता का प्रमाण यही है कि आत्मरूप द्रव्य को नित्य मानने पर ही कर्म और कर्मजन्य फल का नियम बनता है। जीव जो भी अच्छा और बुरा कर्म करता है, उस कर्म के फल का भोक्ता भी वही होता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि कर्ता और भोक्ता दोनों एक ही है। वही आत्मा द्रष्टा है, वही आत्मा स्प्रष्टा है और वही ज्ञानात्मक सृष्टि का अनुभवकर्ता भी है। यदि द्रष्टा और स्प्रष्टा भिन्न-2 होगें तो द्रष्टा को दर्शनात्मक ज्ञान होगा किन्तु स्पृष्टात्मक ज्ञान उसे कैसे

---

1. किरणा0, पृ0 129
2. नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषास्त्वनन्ता एव। वही, पृ0 13
3. त0सं0, पृ0 19

होगा । इसी दृष्टि से सूत्रकार ने लिखा है कि दर्शन और स्पर्श का एक के द्वारा ग्रहण होने से ही आत्मा एक है।[1] भाष्यकार वात्स्यायन ने इसी सिद्धान्त का विस्तार करते हुए लिखा है कि दर्शन से जो अर्थगृहीत होता है। वह स्पर्श से । जिसे देखता है, वही स्पर्श करता है। इससे आत्मा का एकत्व सिद्ध होता है।[2]

न्यायवैशेषिक के मतानुसार इस कर्ता,भोक्ता, विभु जीवात्मा में चौदह गुण विद्यमान रहते हैं। ये गुण हैं- बुद्धि,सुख, दुख, इच्छा, द्वेष , प्रयत्न, धर्म ,अधर्म , भावनाख्य संस्कार ,संख्या,परिमाण,पृथकत्व, संयोग तथा विभाग। इसीलिए सूत्रकार लिखते हैं कि सुख, दुख, इच्छा,द्वेष, प्रयत्न आदि आत्मा के लिंग अर्थात् चिन्ह हैं।[3]

आत्मा में गुणों की प्रतिष्ठा के लिए जो तर्क दिये हैं उनके आधार पर यह कहा गया है कि आत्मान्तर निष्ठगुण में आत्मान्तरनिष्ठ सुख-दुखादि के प्रति कारणत्व का प्रतिषेध तभी हो सकता है। इसी तरह से यह भी कहा गया है कि आत्मा और मन के संयोग विशेष से भावनाख्य संस्कार की भी सिद्धि होती है।[4]

- -

1. दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात् । वै0 सू0 3/1/1

2, दर्शनेन कश्चिदार्थो गृहीत: स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं0 स्पर्शनेनापि..........सोऽर्थान्तरभूत आत्मा।

न्या0 दं0,पृ0295

3. सुखदुखेच्छाद्वेष प्रयत्नाश्च आत्मनो लिंगानि। वै0सू0 3/2/4

4. आत्मान्तर गुणानामात्मान्तरेऽ कारणत्वात्। वही 6/1/5

x x x

आत्ममनसो: संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृति: । वही 9/2/6

न्याय दर्शन की भाँति ही वैशेषिक दर्शनकार ने शरीरात्मवाद, मन आत्मवाद आदि का खण्डन किया है। चार्वाक् दर्शन की यह मान्यता है कि "अहम्" प्रतीति शरीरपदार्थ है अन्य नहीं, और यह अनित्य तथा विनाशी है। इसका उत्तर वैशेषिक दर्शनकार यह कहकर देते हैं कि बाल्य-काल में स्मरण-विषय बृहतवस्था तक स्मृत नहीं रहेंगें। इसी तरह शरीर की तरह आत्मा का अनित्यत्व भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह से मन, विज्ञानादि आत्मत्व की मान्यता का भी खण्डन शास्त्रकार ने किया है तथा आत्मा की नित्यता एवम् अनेकता को स्वीकार किया है।

मुक्ति और उसका स्वरूप:

भारतीय दर्शनों का मुख्य लक्ष्य तो मुक्ति प्राप्त करना ही है। इसलिए सभी दृष्टियाँ किसी न किसी रूप से मोक्ष या अपवर्ग का विचार करती है। वैशेषिक दर्शन में भी अपवर्ग का विचार किया गया है, जिसमें कहा गया है कि जन्म का सर्वथा विनाश हो जाना तथा पुन: जन्म का न होना ही आत्यन्तिक दु:खनाश कहा जाता है। यही आत्यन्तिक दु:खनाश ही मोक्ष है।[1] आचार्य कणाद ने आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति रूप मोक्ष का दु:ख के पूर्ण निरोध में तात्पर्य व्यक्त किया है। उनका यह प्रतिपादन है कि आत्मा का शरीर एवम् इन्द्रियों के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर लेना ही अपवर्ग है।

---

1. तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग: । वै०द०, पृ० 22। से उद्धृत

मोक्ष की स्वरूपावस्थिति के विषय में वैशेषिक सूत्र जो कहते हैं तदनुरूप यह कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवायादि पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्य तथा तत्वज्ञान ही निःश्रेयस् का कारण है।[1]

भाष्यकार ~~वात्स्यायन~~ वात्स्यायन यह प्रतिपादित करते हैं कि शुभ-और अशुभ दोनों प्रकार की कर्म-प्रवृत्ति जन्म में हेतु हैं। अपवर्गावस्था में ज्ञान उत्पन्न होने पर आधाररूप शरीर तथा इन्द्रियों का उनके उत्पत्ति के कारण धर्म तथा अधर्मरूप दृष्टि के न होने से, कारण न होने से कार्याभाव होता है। इसलिए सभी प्रकार के कार्यरूप दुःखों का मोक्षावस्था में अभाव होता है।[2]

सांख्ययोग के आचार्य एवम् रचनायें:

भारतीय दर्शन-परम्परा में सांख्यदर्शन अत्यधिक प्राचीन तथा महत्वपूर्ण दर्शन के रूप में माना जाता है। इसी दर्शन ने सर्वप्रथम तत्वों की गिनती कर उन्हें पचीस की संख्या वाला बताया, इसी के कारण संख्यात्मक होने से इस दर्शन का नाम सांख्यदर्शन हुआ। इसी के साथ एक दूसरा तर्क यह दिया जाता है कि संख्या का अर्थ है- विवेक ज्ञान। प्रकृति और

---

1. धर्मविशेषप्रसूतात् द्रव्यगुणकर्मसामान्य विशेषसमवायानाम्पदार्थानां साधर्म्य वैधर्माभ्यां तत्वज्ञानान्निश्रेयसम्। वै०द०अ०,पृ०24। से उद्धृत

2. तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य............... ....।तस्मात् सर्वदुःखविमोक्षो अपवर्गः।   न्या० द०,पृ० 587

पुरूष के विषय में यह संसार. अविवेकी है और इस दर्शन ने इन तत्वों का ज्ञान कराकर जीव को विवेक का मार्ग दिखाया इसलिए इस दर्शन का नाम सांख्य दर्शन पड़ा।[1]

यह बहुमान्ति है कि सांख्य के आदि आचार्य कपिल मुनि हैं। इनका उल्लेख आदि आचार्य के रूप में किया गया है। जैसे श्रीमद्भगवत् गीता में कहा गया है कि सिद्धों में भगवान् कपिल मुनि मैं हूं।[2] इसी प्रकार से उपनिषद् में यह संकेत है कि ब्रह्म वह है जिसने प्रथम उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से सम्पन्न किया था।[3]कपिल मुनि की दो रचनाओं का सन्दर्भ इतिहासकार देते हैं -एक तत्वसमास का और दूसरे सांख्यसूत्र का। इनमें से सांख्सूत्र को प्राचीन तथा अर्वाचीन मानने में मत वैविध्य है।

---

1. संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते ।
   तत्वानि च चतुर्विंशति तेन सांख्या: प्रकीर्तिता:।
   भा0द0§ब0§,पृ0 600 से उद्धृत

2. अश्वत्थ: सर्ववृक्षाणां देवर्षीणांच नारद ।
   गन्धर्वाणां चित्ररथ: सिद्धानां कपिलो मुनि:। वही, पृ0 168

3. ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्ने, ज्ञानैर्विभर्ति जायमानं च पश्येत् ।
   श्वे0,पृ0175; ज0रा0ए0सो0, पृ0 855-878

कपिल मुनि के पश्चात् आसुरि और पंचशिख का नाम सांख्य-दर्शन के आचार्यों में लिया जाता है। इनमें से आसुरि की कोई कृति उपलब्ध नहीं है। पंचशिख सांख्याचार्य के रूप में प्रतिष्ठित करता हैं।[1] इन आचार्यों के अतिरिक्त ईश्वरकृष्ण की रचना सांख्यकारिका, जिसे छठवीं शताब्दी में रचित बताया जाता है।[2] बहुत प्रसिद्ध है, इसमें सत्तर अथवा तेहत्तर कारिकाओं के संकलन को भिन्न-भिन्न मतमतान्तर से स्वीकार किया जाता है। यद्यपि सांख्यकारिका की माठरवृत्ति और जयमंगला आदि टीकाएँ भी लिखी गई ,किन्तु वाचस्पतिमिश्र द्वारा लिखी टीका तत्त्वकौमुदी सांख्य के क्षेत्र में अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक सिद्ध हुई। इसका कारण सम्भवत: यह रहा कि वाचस्पति मिश्र की गति वेदान्त, न्याय और सांख्य में समानरूप से थी।[3]

सांख्य के सदृश ही योग दर्शन भी महत्वपूर्ण दर्शन है और एक प्रकार से इसका सांख्य दर्शन के साथ अभेद ही है। इसीलिए कहा जाता है कि सांख्य और योग को पृथक्-पृथक् करके नहीं देखते हैं क्योंकि दोनों में से एक में भी सम्यक् प्रकार से स्थित पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को प्राप्त करता है।[4]

---

1. भा०,पृ०52;साठ प्रधान विषयों की व्याख्या करने से षष्टितन्त्र नाम की सार्थता का प्रमाण दिया जाता है। त०कौ०प्र०,पृ०268-270
2. सां०का०,पृ०2
3. भा०द०,पृ० 278-279
4. सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:।
   एकमप्यास्थित: सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।   भ०गी०,पृ० 96

योग के आदि आचार्य के रूप में पतञ्जलि मुनि का नाम बहुश्रुत और बहुज्ञात है। कहा यह जाता है कि इन्होंने योग से अन्तःकरण के, व्याकरण से वाणी के तथा वैद्यक से शरीर के मल को दूर किया। इसका अभिप्राय यह हुआ कि पतञ्जलि ने योग, व्याकरण और वैद्यक पर समान रूप से ग्रन्थों की रचना की।[1]

पातञ्जलयोगदर्शन पर व्यासभाष्य अत्यधिक प्रामाणिक भाष्य के रचयिता कौन व्यास हैं, इस विषय में पर्याप्त भिन्नता है, फिर भी, इतना दार्शनिक और इतिहासविद् अवश्य स्वीकार करते हैं कि ये व्यास पुराणों के रचनाकार व्यास से पृथक् व्यास थे। इनका रचनाकाल तृतीय शताब्दी से प्राचीन नहीं माना जाता है।[2] इनके अतिरिक्त योगसूत्र पर तत्ववैशारदी, योगवार्तिक, भोजवृत्ति आदि टीकायें योगदर्शन के लिए महत्व की रचनायें हैं।

सत्कार्यवाद :-

सांख्य सत्कार्यवादी दर्शन-दृष्टि है। इसका अभिप्राय यह है कि कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य कारण में सत्रूप से विद्यमान है। इसी को

---

1. योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।
   योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।
   पा०यो०प्र०, पृ० 152

2. भा० द० (ब०), पृ० 286

सांख्य का सत्कार्यवाद कहा जाता है। इसके लिए सांख्यकारिका कार ने अपनी कारिका में पाँच प्रकार के तर्क देकर यह सिद्ध किया है कि कारण से कार्य की उत्पत्ति का अर्थ व्यक्त होना है। इसी तरह कार्य-नाश का अर्थ व्यक्त से अव्यक्त होना है।[1]

आचार्य गौड़पाद ने अपने भाष्य में ये तर्क दिये हैं कि असत् से सत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती और असत् कारण नहीं बन सकता । इसी प्रकार से जो इस लोक में कुछ प्राप्त करना चाहता है, वह उसी वस्तु का उपादान ढूँढ़ता है जैसे दधि का इच्छुक दूध प्राप्त करता है जल नहीं। आचार्य और उदाहरण देकर यह सिद्ध करते हैं कि सभी की उत्पत्ति सभी से सम्भव नहीं है जैसे स्वर्ण और रजत से आभूषण और तिलों से तेल की उत्पत्ति सम्भव है किन्तु मृतिका से आभूषण और बालू से तेल की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। ऐसे ही जिस कार्य को जो करने में सक्षम है, वह वही कार्य कर सकता है जैसे कुलाल चक्र चीवरादि से घटादि का निर्माण करने में समर्थ होता है,अन्य कोई नहीं। कारण जिस लक्षण अर्थात् जिस प्रकार का है कार्य भी उसी प्रकार का होता है इसलिए दोनों की समानता

---

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात् ।
   शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ।।

सां० का०, पृ० 8

होने से भी सत् कार्यवाद की सिद्धि होती है।[1]

तत्वकौमुदीकार ने न्याय सिद्धान्त की मान्यता में यह और जोड़ दिया है कि कारण-व्यापार के पूर्व भी कार्य कारण में अव्यक्त रूप में रहता है।[2] इसी तरह से तत्व कौमुदीकार कहते हैं कि यद्यपि बीज और मृतिका पिण्ड के नष्ट हो जाने पर ही उनसे अंकुर और घट उत्पन्न होते हैं।

---

1. न सदसदसतो करणं तस्मात् सत् कार्यम् । इह लोकेऽसत्करणं नास्ति यथा सिकताभ्यस्तैलोत्पत्ति:, तस्मात् सत: करणादस्ति प्रागुत्पत्ते: प्रधानेऽव्यक्तम्, अत: सत्कार्यम्। नहि चान्यत् उपादानग्रहणात्, उपादानं कारणं तस्य ग्रहणात्, इहलोके यो येनार्थी स तदुपादानग्रहणं करोति। दध्यर्थी क्षीरस्य न तु जलस्य तस्मात् सत्यकार्यम्। सर्वसम्भवाभावात्, सर्वत्र सर्वत्र सम्भवो नास्ति, यथासुवर्णस्य रजतादौ तृणपांशुसिकतासु तस्मात् सर्व - सम्भावाभावात् सत् कार्यम्। इतश्च नीरादिकरणोपकरणं व शक्यमेव घटं मृत्पिण्डादुत्पादयति, तस्मात् सत्कार्यम्।......................
..................एवं पञ्चभिर्हेतुभि: प्रधाने महदादिलिंगमस्ति, तस्मात् सत् उत्पत्तिर्नासत इति।

सां०का०,पृ०९ पर गौड़पादभाष्य ।

2. "सत् कार्यम्"कारणव्यापारात् प्रागपीति शेष:। तथा च न सिद्धसाधनं नैयायिकतनयैरुद्भावनीयम् । त० कौ०पृ०,पृ० 144

किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि मृत्तिका अथवा बीज का विनाश होता है। क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि ऐसा होने लगेगा तो अभाव की सर्वत्र प्राप्ति से सभी कुछ सभी जगह उत्पन्न होने लगेगा।[1]

अपनी इस उक्ति से जहाँ बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन तत्त्व-कौमुदीकार करते हैं वहीं वे वेदान्त के विवर्तवाद का भी खण्डन करते हैं और लिखते हैं कि शब्दादि प्रपञ्चात्मक जगत् की प्रतीति मिथ्या है- यह बात उस प्रतीति में बिना किसी बाधक के उपस्थित हुए कैसे कही जा सकती है, जैसे सीपी में रजत या रस्सी के खण्ड में सर्प की प्रतीति का बाध उनके अनन्तर होने वाली " यह रजत नहीं सीपी है" अथवा "यह सर्प नहीं रस्सी है" इस प्रकार की प्रतीति होने पर ही होती है। उसी प्रकार से ब्रह्म में विद्यमान जगत् की प्रतीति का कोई बाधक दीख पड़ने पर ही उसे मिथ्या कहा जा सकता है।[2] जबकि जगत् के सम्बंध में इस प्रकार से दिखाई नहीं देता है।

---

1. यद्यपि बीजमृत्पिण्डादिप्रध्वंसानन्तर मंकुरघटाद्युत्पत्तिरुपलभ्यते, तथापि न प्रध्वंसस्य कारणत्वम्, अपितु आवस्यैव बीजाद्यवयवस्य। अभावात् भावोत्पत्तौ तस्य सर्वत्र सुलभत्वात् सर्वदा सर्वकार्योत्पाद-प्रसङ्गः। वही ,पृ0144

2. प्रपञ्चप्रत्ययश्चासति बाधके न शक्यो मिथ्येति वदितुमिति। वही,पृ0145

सांख्य में, जो द्वैतवादी दर्शन है, प्रकृति का कथन मूलरूप में किया गया है, यह सभी के मूल में है क्योंकि सभी इसके कार्य हैं तथा यह सभी की (पुरुष को छोड़कर) कारण है। गौड़पाद आचार्य ने मूल शब्द का अर्थ प्रधान किया है और यह लिखा है कि प्रकृति विकृति सात तत्त्व की मूलभूत होने से यह मूल अर्थात् प्रधान है।[1]

तत्व कौमुदीकार यह निर्वचन करते हैं कि मूलप्रकृति कार्य से भिन्न केवल कारण है। जो कार्यों को उत्पन्न करती है, वही प्रकृति है, यह प्रधान नाम से अभिहित है और सत्व, रज तथा तमस् की साम्यावस्था है, यह सम्पूर्ण कार्यों की जड़ है और इसकी कोई जड़ नहीं है।[2]

सांख्यकारिकाकार ने दो और कारिकायें प्रकृति के निरूपण में दी हैं। एक कारिका में तो "व्यक्त" का वर्णन किया गया है और बाद में यह कहा गया है कि इनके विपरीत अव्यक्त अर्थात् प्रकृति है। जैसे व्यक्त सकारण, विनाशी व्याप्य अर्थात् एक देशीय, अनेक, अवयवयुक्त और प्रधान में अनुमान के हेतु हैं। जबकि अव्यक्त अकारण, अविनाशी, व्यापक, अक्रिय, एक, निरवयव, स्वतंत्र हैं।

---

1. मूलप्रकृति: प्रधानम्, प्रकृतिविकृतिसप्तकस्य मूलभूतत्वात्, मूलं च सा प्रकृतिश्च मूलप्रकृति:, अविकृति: अन्यस्मान्नोत्पद्यते, तेन प्रकृति: कस्यचिद्विकारो न भवति। सां०का०, पृ० 4 पर भाष्य

2. "मूलप्रकृतिरविकृति:" इति प्रकरोतीति प्रकृति: प्रधानं सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था, सा अविकृति:, प्रकृतिरेवेत्यर्थ:। कुत: इत्युक्तम्-मूलेति। मूलञ्चासौ प्रकृतिश्चेति मूलप्रकृति: विश्वस्य कार्यसंघातस्य सा मूलम्, न त्वस्या मूलान्तरमस्ति अनवस्थाप्रसंगात् न चानवस्थायां प्रमाणमस्तीति भाव:। वही, पृ० 94

और दूसरी कारिका में यह निरूपित किया गया है कि प्रकृति त्रिगुण, अभिन्न, सामान्य, जड़ एवं परिणामी है।[1]

प्रकृति सिद्ध है और कारणरूपा है इसलिए भी जो तर्क दिए गए हैं उनके अनुरूप यह कहा गया है महदादिलिङ्गों {अर्थात् परिचायकों} के कारण प्रकृति है। त्रिगुण स्वभावी होने से प्रकृति सिद्ध है। इस सम्बन्ध में माठरवृत्ति में यह निरूपित है कि परिणामस्वभावी त्रिगुण एक क्षण भी विना परिणाम के नहीं रहते इसलिए त्रिगुणरूपा प्रकृति में इनके होने से तथा अनेक कार्यों की जनक होने से प्रकृति सिद्ध है।[2]

दार्शनिक यह मत देते हैं कि जब प्रकृति के गुण साम्यावस्था में रहते हैं तब प्रलय रहता है। जब साम्यावस्था नष्ट होती है अर्थात् गुणों में वैषम्य होता है तो महत्, अहंकार, तन्मात्र, पंचभूत और इन्द्रियादिकों की सृष्टि होती है। क्योंकि प्रकृति प्रतिक्षण परिणामी है।[3]

---

1. हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।
साववयं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।
× × × × ×
त्रिगुणमविवेक विषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद् विपरीतस्तथा च पुमान् ।। सां० का० , पृ० 9-11
2. परिणामस्वभावनां गुणानां क्षणमपि परिणामं विहायावस्थाना संभवात्सत्वादिरूपतया प्रधानस्य प्रवृत्तिरिति मिश्रा:। प्रधाने सत्वादीनामवस्थानात् बहुत्वसंभवात्त्रिगुणत: प्रवृत्तिस्त्रथ व्यवहारोऽत एकस्मात्तन्तो: पटासंभववत्कथमेकं प्रधानमनेककार्यजनकमिति। सां० का० पृ० 16 पर माठरवृत्ति।
3. त० कौ० पृ० , पृ० 199-200; भा० द० {ब०}, पृ० 606

पुरूष-

प्रकृति और पुरूष इन्हीं दो प्रमुख तत्वों पर ही सांख्यदर्शन का पूरा का पूरा ढाँचा खड़ा है। इसलिए सांख्यकार पुरूष के अस्ति का प्रतिपादन करने के साथ-साथ उसके अनेकत्व और निरपेक्षत्व को भी निरूपित करते हैं। सांख्यकारिकाकार मूलरूप से लिखते हैं कि संघात अर्थात् उत्पादसमूह पदार्थ के लिए होता है और यह जिसके लिए है, वही पुरूष है, इसी प्रकार त्रिगुण के अधिष्ठाता की अपेक्षा होने से पुरूष है। प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व किसी न किसी भोक्ता की अपेक्षा करता है, इस अपेक्षा से भी पुरूष सिद्ध है। और कैवल्य अर्थात् मुक्ति के लिए प्रवृत्ति होने से भी पुरूष का अस्तित्व प्रतिपादित है।[1] आचार्य गौड़पाद इसमें तर्क देते हैं कि जैसे पर्यङ्क आदि अचेतन पदार्थ परार्थ के लिए हैं उसी तरह से यह प्रकृति और उसका पुरूष के हेतु से है। और अन्य तर्कों के साथ-साथ वे यह निरूपित करते हैं कि विद्वान् और अविद्वान् सभी की यह इच्छा होती है कि वह केवल अर्थात् संसार और संतानादि से पृथक् अकेला हो जावे और कैवल्य का अनुभव करे। इसलिए कैवल्य की इस सहज प्रवृत्ति से भी पुरूष के अस्तित्व का अनुमान होता है।[2]

---

1. संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् ।
   पुरूषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।। सां० का०, पृ० 17

2. यो यं महदादिसंघातः स पुरूषार्थ इत्यनुमीयते, अचेतनत्वात् पर्यङ्कवत्
   .... यथाश्वैर्युक्तो रथः सारथिनाधिष्ठितः प्रवर्तते तथात्माधिष्ठानाच्छरीरमिति। .....यथा मधुरलवणकटुतिक्तकषायषड् रसोपबृंहितस्य संयुक्तस्यान्नस्य साध्यते। ......यतः सर्वो विद्वानविद्वांश्च संसारसंतानक्षयमिच्छति । एवमेभिर्हेतुभिरस्त्यात्मा शरीराद् व्यतिरिक्तः ।
   सां०का०, पृ० 17-18पर गौड़पादभाष्य

पुरूष बहुत्व :

पुरूष एक नहीं, अनेक हैं- यह मान्यता भी सांख्य सिद्धान्त की हैं। इस मान्यता में तर्क यह दिया जाता है कि जन्म, मरण तथा इंद्रियों की व्यवस्था का एक साथ प्रवृत्ति का अभाव तथा गुणों के भेद के कारण पुरूष की अनेकता सिद्ध है।[1]

तत्वकौमुदीकार ने इसकी व्याख्या में यही निरूपित किया है कि जन्म, मरण और इन्द्रियों की पृथक्-पृथक् व्यवस्था होने के कारण पुरूष की बहुत्व की स्थिति सिद्ध होती है। वे कहते हैं कि सभी शरीरों में एक ही पुरूष उत्पन्न न होकर प्रति शरीरों में भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न होता है। इसी तरह सभी की एक साथप्रवृत्ति न होने से भी पुरूष बहुत्व की सिद्धि होती है। त्रिगुण की भिन्नता भी यही संकेत करती है कि पुरूष एक न होकर अनेक हैं क्यों कि कोई सत्वबहुल प्रकृति का दृष्टिगत होता है, कोई रजो बहुल प्रकृति का दृष्टिगत होता है तो कोई तम बहुल प्रकृति का दृष्टिगोचर होता है- इसलिए पुरूष की बहुत्व की स्थिति को सांख्यकार स्वीकार करते हैं।[2]

जन्ममरण-प्रतिनियम का अर्थ माठर ने अपनी वृत्ति में दूसरे प्रकार से किया है। वे यह तर्क देते हैं कि इस जन्म में ही कोई नीच कुल में

---

1. जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
   पुरूष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ।। सां० का० , पृ० 18

2. त०कौ०पृ०, पृ० 211-216

उत्पन्न दिखाई देता है, कोई उच्च कुल में उत्पन्न होता है। एक पुरुष होने की स्थिति में ऐसा नहीं होना चाहिए था। एक पुरुष होने पर तो सबको या तो नीच कुल में उत्पन्न होना चाहिए था अथवा उत्कृष्ट कुल में उत्पन्न होना था, किन्तु ऐसा दृष्टि गोचर होता नहीं है।

इसी तरह से मरण में भी पार्थक्य दृष्टिगत होता है। जैसे मेरे पिता मृत हुए और किसी के भ्राता, किसी के मातुलादि। तब एक पुरुष होने पर ऐसा कैसे होता है। अतः पुरुष एक नहीं अनेक हैं और इसीलिए सांख्यकार पुरुष बहुत्व की दृष्टि को उपस्थापित करते हैं।[1]

पुरुष का साक्षित्व :

इन्हीं तर्कों के परिप्रेक्ष्य में पुरुष का साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टत्व तथा अकर्तृत्वभाव सिद्ध किया गया है और यह तर्क दिया गया है कि पुरुष में चेतनत्व और अविषयत्व होने से उसका साक्षीभाव सिद्ध है क्योंकि चेतन ही साक्षी हो सकता है क्योंकि पुरुष में अत्रैगुण्य है इसलिए सुख-दुखादि से परांगमुख होने के कारण उसका कैवल्यभाव सिद्ध है और जो सुख-दुख से पृथक् है,

---

1. इह केचिन्नीचजन्मानः, केचिदुत्कृष्टजन्मानः, केचिन्मध्यजन्मानः। यदि पुनरेकः पुरुषः स्यात्, स एव नीचकुलोत्पन्नः स्यात्, स एव उत्कृष्टकुलोत्पन्नः स्यात्। कस्मात्, पुरुषैकत्वात्। अतश्चायं नियमः अन्ये अधमा, अन्ये उत्कृष्टाः तस्माद् बहवः पुरुषाः। अतश्च मरण-नियमात्। मरणेऽपि नियमो दृष्टो मम भ्राता मृतो मम पिता च। तस्माद् बहवः पुरुषाः। माठरवृत्ति; त॰कौ॰प्र॰, पृ0 213 से उद्धृत ।

वही मध्यस्थ है। किन्तु चेतन के बिना अचेतन प्रकृति किस तरह से कार्य करती है इसके लिए सांख्यदर्शन में यह कहा गया है कि अकर्ता चेतन पुरुष के संयोग से अचेतन प्रकृति प्रवृत्तियुक्त होकर कार्य करती है और पुरुष के अकर्ता होने पर भी उसमें कर्तृत्व का आभास होने लगता है।[1]

बन्ध और मोक्ष :-

"संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति:" अभिप्राय यह है कि पुरुष का, सांख्य सिद्धान्त के अनुसार न बन्धन होता है और न ही मोक्ष होता है। बन्धन और मोक्ष केवल प्रकृति का ही होता है जो अनेकाश्रय से अपना कार्य करती रहती है किन्तु नाम राजा का लिया जाता है उसी तरह से प्रकृति के बन्धन और मोक्ष होने पर भी नाम पुरुष का लिया गया है।[2]

पुरुष स्वभाव से ही मुक्त है। किन्तु अविवेक के कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग होता है। इस संयोग से पुरुष में प्रकृति का दु:खजन्य जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही पुरुष के लिए दु:ख भोग है अथवा संसार है। इसके मूल में अविद्या है और विवेक की उत्पत्ति से यह अविद्या दूर हो जाती है। इसलिए सांख्यप्रवचन-भाष्य में[3] कहा गया है कि पुरुष में दु:खादि का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वही उसका बन्धन है और उस दु:ख से वियुक्ति उसके लिए अपवर्ग है। सांख्य सूत्र में

---

1. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम्।
   गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीन: ।। सां० का०, पृ० 19

2. यथा जय पराजयौं भृत्यगतानपि स्वामिन्युपचर्यते, तदाश्रयेण भृत्यानां तदभागित्वात्, तत्फलस्य च शोकलाभादे: स्वामिनि सम्भवात्। त० कौ० प्र०, पृ० 32।

3. य: पुरुषस्यापवर्ग उक्त:सप्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुखस्य वियोगएव।
   भा० द० (ब०) पृ० 611 से उद्धृत, भ० गी०, पृ० 63

प्रकृति और पुरुष में से किसी एक की उदासीनता को अपवर्ग कहा गया है।[1] इसका प्रतिफलन यह हुआ कि पुरुष का अकर्तृत्व और साक्षीभाव भी इससे निरूपित होता है तथा प्रकृति के त्रैगुण्य से ही सृष्टि के उत्पाद का सिद्धान्त भी प्रतिपादित होता है।

किन्तु एक विद्वान ने यह विचार दिया है कि सांख्य में निर्लिप्त ‖ ‖ज्ञ‖, बद्ध और मुक्त तीन प्रकार के पुरुष स्वीकृत हैं। इसके लिए वे तत्त्वकौमुदी का एक मंगल श्लोक- "अजां ये तां जुषमाणां भजन्ते जहत्येनां भुक्तभोगां नुमस्तान्"- का उदाहरण दिया है और लिखा है कि एक पुरुष वे हैं जो प्रकृति की सेवा में रत हैं, दूसरे वे हैं जो प्रकृति के संसर्ग को छोड़ देते हैं और तीसरे वे हैं जो मुक्त हैं।[2]

किन्तु ईश्वर कृष्ण ने और आचार्य गौड़पाद आदि ने जो सिद्धान्त दिया है उसके अनुरूप तो यही कहा जा सकता है कि जैसे होने पर भी दूध गाय के थन से स्वयम् प्रवृत्त होता है उसी तरह से जड़ प्रकृति भी पुरुष के विमोक्ष के लिए स्वयम् प्रवृत्त होती है। जैसे दुग्ध जड़ है तदवत् प्रकृति भी जड़ पर उसकी क्रियाशीलता सिद्ध है। जब यह प्रश्न किया जाता है कि इसमें प्रकृति का क्या लाभ है तो सांख्यकार कहते हैं कि वह केवल उत्सुकता की निवृत्ति के लिए ही प्रवृत्त होती है। और जिस तरह से कोई नर्तकी रंगमंच पर अपने हाव-भाव दिखाकर निवृत्त हो जाती है अर्थात् अपने हाव-भाव समेट लेती है उसी तरह से

- -

1. द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्गः । सां० सू० 3/65

2. भा० द०, पृ० 305

प्रकृति भी अपना कार्य पूर्ण करके निवृत्ति को प्राप्त हो जाती है।[1] यही प्रकृति के बन्ध मोक्ष का अभिप्राय है। पुरुष इससे निरपेक्ष रहता है।

साँख्य-योग का भेदाभेद:-

"नास्ति सांख्य समं ज्ञानं नास्तियोगसमं बलम्"- अर्थात् सांख्य के समान ज्ञान और योग के समान बल नहीं है; कहकर एक प्रकार से सांख्य और योग के नैकट्य तथा अभिन्नत्व को ही निरूपित किया गया है।[2] इसी तरह से जब सांख्य और योग के प्राचीनतम आदि वक्ताओं का नाम लिया गया तब भी इन दोनों को साथ-साथ ही कहा गया।[3]

श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह वर्णन है कि नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन, जो सभी की कामनाओं की पूर्ति करता है उसे सांख्य और योग के द्वारा ही जाना जा सकता है।[4]

---

1. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
   पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य।।
   औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
   पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्व्यक्तम्।।
   रंगस्य दर्शयित्वा विनिवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
   पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः।। सां० का०, पृ० 50 ; त०
   कौ०पृ०, पृ० 313-316
2. पा० यो० पृ०, पृ० 83
3. वही, पृ० 84
4. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
   तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः।। वही 6/16

श्री मद्भगवत गीता तो स्पष्ट रूप से कहती है कि सांख्य और योग पृथक् कहने वाले केवल अज्ञ ही हो सकते हैं ; पण्डित जन कभी भी ऐसा नहीं कहते हैं क्योंकि इन दोनों में से किसी एक भी का अनुष्ठान कर लेने पर दोनों का फल प्राप्त हो जाता है। सांख्य और योग के अधिष्ठाता दोनों उसी को प्राप्त करते हैं। इसलिए जो इन दोनों को एक जानता है, वही जानता है।[1]

एक आचार्य यह मन्तव्य व्यक्त करते हैं कि सांख्य ज्ञान प्रधान है और योग कर्म प्रधान है।[2]

ईश्वर :-

योग दर्शन को सांख्य के साथ एक रूप में देखने वाले आचार्य तथा अन्य दार्शनिक भी योग को सेश्वर सांख्य का नाम इसलिए दे देते हैं क्योंकि योग-दर्शन में ईश्वर को एक पृथक् तत्व के रूप में मानकर इसकी स्थापना महत्वपूर्ण रूप से की गई है। योग में ईश्वर की सिद्धि करते हुए यह कहा गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक, आशय से अपरामृष्ट अर्थात् असंवद्ध अथवा सम्बन्ध रहित पुरूष विशेष ईश्वर है।[3] यहाँ पर क्लेशों से अविधा, राग, द्वेष आदि विपाकों से कर्मों के फलरूप सुख-दु:खादि, आशयों से वासना रूप संस्कार गृहीत किये गये हैं।

- -

1. सांख्ययोगौ पृथग्बाला: प्रवदन्ति न पण्डिता:

x x x

यत्सांख्यै: प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।

एकं सांख्यं च योगं च य: पश्यति स पश्यति।। भ०गी०,पृ० 96-97

2. पा०यो०प्र० ,पृ० 84

3. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरूषविशेष ईश्वर:।पा०यो०प्र०,पृ० 212

इस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज निरतिशय [अर्थात् अतिशय रहित] है। इसका अभिप्राय यह है जैसा कि भोजवृत्ति में निरूपित किया गया है कि भूत, भविष्य, वर्तमान् पदार्थों का ज्ञान अल्पत्व-महत्व निरतिशय है। जो धर्म अल्पत्व - महत्वादि वाले हैं उनकी अवधि देखी गई है। जैसे परमाणुओं में अल्पत्व और आकाश में महत्व दिखाई देता है। ईश्वर में यह सब निरतिशय है।[1]

यह ईश्वर पूर्व से उत्पन्न ब्रह्मादिकों, ऋषियों आदि का भी गुरु है क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न अर्थात् किसी भी रूप में बाधित नहीं है। काल उसे किसी भी रूप में परिमित नहीं कर सकता।[2]

ईश्वर की इस परिभाषा के विचार के परिप्रेक्ष्य में भाष्यकार ने विस्तार से चर्चा की है और यह प्रतिपादित किया है कि ईश्वर केवलीपुरुष नहीं है क्योंकि इसमें न कभी बन्धन था और न कभी बन्धन होगा। इसी प्रकार से ईश्वर मुक्त पुरुष से भी भिन्न है क्योंकि जो मुक्त पुरुष है वह कभी न कभी बन्धन का अनुभव करता था जबकि ईश्वर में कभी भी बन्धन की कल्पना नहीं की जा सकती। इसी तरह से ईश्वर को प्रकृतिलीन पुरुष भी नहीं कहा जा सकता है क्योंकि प्रकृतिलीन पुरुष मुक्तवत् होकर भी पुनः हिरण्यगर्भ के स्वरूप को धारण करता है और इस प्रकार से प्रकृतिलीन पुरुष को उत्तरकाल में बन्धन होने की सम्भावना रहती है। ईश्वर को उत्तरकाल में भी बन्धन नहीं होता है।[3]

ईश्वर में ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति आदि गुण हैं इसलिए

---

1. तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। पा० या० पृ०,पृ० 217 तथा 216 पर वृत्ति।
2. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। वही, पृ० 216
3.

ईशत्व की अतिशयता के कारण ही इसे ईश्वर कहा जाता है। ईश्वर में सर्वज्ञता तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व भी है। यह सवापेक्षया उत्तम और निरतिशय है। ईश्वर से अधिक सर्वगुणसम्पन्न और कोई दूसरा नहीं है। ईश्वर वही है जिसमें इन गुणों की पराकाष्ठा होवें। इन्हीं सब कारणों के कारण ईश्वर सर्वदा ईश्वर है और ऐश्वर्य सम्पन्न है।

बन्ध और मोक्ष :-

द्रष्टा अर्थात् पुरुष में यद्यपि देखने की शक्तिमात्र निर्मल है तथापि उसे चित्र की वृत्तियों का ज्ञान रहता है।[1] और इसी ज्ञान के वश में होकर अकर्ता, अभोक्ता और साक्षी पुरुष स्वयम् को कर्ता तथा भोक्ता स्वीकार कर लेता है। यही उसका बन्धन है। योग दर्शन में कहा गया है कि पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अर्थात् चिति-शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।[2]

एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि चित्त और पुरुष की शुद्धि समान होने पर कैवल्य होता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि सत्वचित्त इतना शुद्ध हो जावे कि उसमें रजस्-, तमस् का मैल दूर हो जावे और वह पुरुष तथा चित्त का भेद दिखाकर गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुष को अपना स्वरूप साक्षात् कराने के योग्य हो जावे। यही पुरुष का कैवल्य है।

---

1. द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः। पा०यो० प्र०, पृ०147
2. पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति । वही, पृ० 606
3. सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति । वही ,पृ०

मीमांसा दर्शन तथा इसके आचार्य :-

वेद के दो भाग कहे जाते हैं- कर्मकाण्ड भाग तथा ज्ञान-काण्डभाग । यज्ञ,यागादि,विधि और अनुष्ठान का वर्णन कर्मकाण्ड का विषय है और जीव,जगत् तथा ईश्वर के रूप का वर्णन एवं उनमें परस्पर सम्बंध विवेचन ज्ञानकाण्ड का विषय है। कर्मकाण्ड के विधान का विचार जिसमें प्रमुख रूप से किया गया है और वैदिक प्रामाण्यमानकर जिसमें ज्ञानात्मक तत्वों पर भी संक्षेपत: चर्चा है, वह पूर्वमीमांसा के नाम से व्यवहृत है।

पूर्वमीमांसा आज जिस रूप में प्रतिष्ठित है, उसमें स्थान-स्थान पर विवेच्य विषयों के अर्थ निष्पादन के लिए वेद वाक्यों के विधि-विधानों का ही विचार है। दर्शन के रूप में इसकी प्रतिष्ठा बाद में हुई प्रतीत होती है। इसीलिए यह कहा जाता है कि मीमांसा का कर्मकाण्ड विवेचन सम्बंधी-भाग अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है।[1]

इस दर्शन के आदि आचार्य जैमिनि इसलिए कहे जा सकते हैं क्योंकि इनके पूर्व के जिन आत्रेय, आलेखन आदि आचार्यों का उल्लेख आता है,उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती है। जैमिनि के सूत्रों से ही एक प्रकार से इस दर्शन के व्यवस्थित रूप का प्रकाश होता दिखाई देता है। इनके अनन्तर शंबर स्वामी ने अपना भाष्य प्रस्तुत किया जिसमें कर्मकाण्ड विषयक सामग्री के विवेचन के साथ-साथ गम्भीर दार्शनिक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया। अनेक विवेचनों और विवरणों के आधार पर जो निष्कर्ष दिया जाता है, तदनुरूप शंबर स्वामी को दूसरी शताब्दी ईसापूर्व का स्वीकार करते हैं।[2]

---

1. प्र०पं० भू०, पृ० 23

2. मी० प०,पृ० 5

कुमारिल भट्ट का नाम मीमांसा की परम्परा मौलिक सूझबूझ और उनकी अलौकिक प्रतिभा के कारण विशेष रूप से प्रख्यात है। इन्होंने अपने शास्त्रीय पाण्डित्य से बौद्धों को परास्त कर वैदिक धर्म की मर्यादा की संरक्षा की। शाबरभाष्य पर इनके वृत्तिरूप में तीन ग्रन्थ प्राप्त हैं - श्लोकवार्तिक ,तन्त्रवार्तिक तथा टुप् टीका। कुमारिल आचार्य के प्रमुख शिष्य मण्डन मिश्र ने विधि विवेक, भावना विवेक, विभ्रम विवेक आदि ग्रन्थ लिखें हैं। इनके शिष्य उम्बेक ने तात्पर्यटीका की रचना की। इनके अतिरिक्त भी इनके मतानुयायी आचार्य हैं माधवाचार्य, खण्डदेव तथा विश्वेश्वर भट्ट आदि।

प्रभाकर मिश्र गुरुमत के संस्थापक हैं और इन्होंने बृहती तथा लध्वी नाम की दो टीकायें लिखी हैं। इनके अतिरिक्त भवनाथ,शंकर मिश्र तथा मुरारि मिश्र नाम के अन्य आचार्य भी इस परम्परा में हैं।

पदार्थ विचार:-

तत्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा दर्शन प्रपञ्च की नित्यता स्वीकार करता है किन्तु पदार्थों की कल्पना में प्रभाकर, कुमारिल और मुरारि में मतभिन्नता दिखाई देती है। आचार्य प्रभाकर की दृष्टि से द्रव्य, गुण,कर्म,सामान्य,समवाय,संख्या,शक्ति तथा सादृश्य को पदार्थ स्वीकार किया गया है। ये सभी वैशेषिक मत के समान ही हैं। जबकिकुमारिल चार भाव पदार्थ सहित अभाव को भी स्वीकार करते हैं। मुरारि मिश्र ब्रह्म को ही एक मात्र पदार्थ के रूप में स्वीकारते हैं और अन्य पदार्थों को वे गौण पदार्थ के रूपमें ही मान्य करते हैं। इस प्रकार से पदार्थ विचार के सम्बंध में इन तीनों आचार्यों में पर्याप्त रूप में मत भिन्नता दिखाई देती है।

मी0प्र0 ,पृ0 26

आत्मा :

न्यायवैशेषिक की ही तरह मीमांसक आत्मा की सत्ता स्वीकार करते हैं। वे शरीर तथा इन्द्रियादि से भिन्न आत्मा अथवा जीवात्मा की सत्ता को मानते हैं। आत्मा वह द्रव्य है जिसका असाधारण गुण चैतन्य है, और चेतन होने से वह इन्द्रियों का प्रवर्तक विषयों का उपभोक्ता तथा शरीर से भिन्न है।[1]

आत्मा नित्य है और इसका विनाश नहीं होता है यह कर्ता और भोक्ता है तथा अहं भाव से सर्व विद्यमान होने के कारण प्रत्यक्षानुभव-गम्य है। इसकी स्वरूप ज्ञानावस्था का स्वरूप है और किसी भी प्रकार के देश तथा काल की सीमा से परिच्छिन्न नहीं है। अर्थात् आत्मा को न तो किसी देश विशेष तक सीमित कहा जा सकता है और न ही उसे भूत, भविष्य तथा वर्तमान की सीमा में सीमायित किया जा सकता है।[2] आत्मा भिन्न-भिन्न शरीरों में पृथक्-पृथक् रूप से अनुभूत होने के कारण अनेक हैं और यह एक शरीर के पात होने पर दूसरे शरीर को प्राप्त कर लेता है। तर्क यह दिया जाता है कि आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करने पर ही उसके बन्ध और मुक्त होने के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा सकता है।यदि आत्मा एक माना जायेगा तो एक के बन्धन में पड़ने पर सभी बन्धन मुक्त हो जावेगें और एक के मुक्त होने पर सभी मुक्त हो जावेगें।[3]

आत्मा के सम्बंध में शबर स्वामी ने उतना विचार नहीं किया अथवा यह कह सकते हैं कि उन्होनें प्रारम्भिक अवस्था में संकेतात्मक रूप से आत्मा का संकेत किया था जिसे बाद में कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र

---

1. मी०द०,पृ०344; त०सं०र०,पृ० 41; मी०श्लो०वा०,पृ०84।

2. शा०दी०,पृ० 123

3. वही,पृ० 124-125

ने अपने-अपने ढंग से विस्तृत पर्यालोचन कर यह विचार उपस्थित किया है।

इन दोनों आचार्यों के मत से आत्म तत्व तो स्वीकृत हैं किन्तु इसके प्रतिपादन में बहुत सूक्ष्म सा अन्तर भी दृष्टिगत होता है। फिर भी इन दोनों आचार्यों की दृष्टि से आत्मा को विभु कर्ता और भोक्ता के रूप में निरूपित किया जाता है। यह आत्मा ज्ञानादि का आश्रय होकर अनुभवगम्य है। अपने किये हुए धर्म अथवा अधर्म से जन्म,योनि,आयु आदि के रूप में भोग भोगने वाला आत्मा है।[1]

मीमांसा के प्रथम आचार्य का आत्मा के सम्बंध में जो अभिमत है,उसके अनुरूप आत्माकर्ता,अनुभावक ,शरीर से भिन्न,प्रत्येक में साक्षी,शाश्वत, सर्वव्यापी अहं की प्रत्यभिज्ञा से स्वतंत्र, निरवयव,अमानस है। इसी तरह से मैं सुखी हूं,मैं दुखी हूं, मैं जानता हूं, मैं नहीं जानता हूं- इस प्रकार की प्रतीति सभी को होती है; इस सभी अनुभवों के द्वारा आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया जा सकता है।[2]

आत्मा की जो अवधारणा मीमांसा दर्शन में प्रवर्तित हुई है उसके लिए विद्वान यह कहते हैं कि यह धारणा बहुत कुछ वेदान्त दर्शन के अनुरूप है। इसके लिए तर्क यह दिया जाता है कि वेदान्त को अपना अभिमत मानकर श्लोकवार्तिका में आत्म तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है।[3]

- -

1. मी०प्र०,पृ०69 , मी०श्लो० वा०,पृ० 845

2. मा०मे० पृ० 204

3. इ०पू०मी० ,113

ईश्वर :-

मीमांसा दर्शन की प्राचीन परम्परा में तो ईश्वर पर किसी तरह का विचार नहीं किया गया है। कहा गया है कि ईश्वर को मानने में कोई प्रमाण नहीं है। कुमारिल प्रलय और सृष्टि के विधान को भी नहीं स्वीकार करते इसलिए इस सृष्टि को क्रमबद्ध रखने के लिए भी उनकी दृष्टि से ईश्वर की मान्यता को कोई कारण नहीं है। इसलिए मीमांसा सूत्रों के प्रणेता महर्षि जैमिन ने ईश्वर के विषय में किसी प्रकार का विचार न कर मौन रहना ही श्रेयस्कर माना है। हाँ ,इतना अवश्य है कि उन्होंनें ईश्वर के अस्तित्व का न तो कहीं पर खण्डन किया है अथवा न ही कहीं पर उसके विरूद्ध तर्क कियें हैं।[1]

कुछ विद्वानों ने एक दूसरा अभिमत इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि प्रारम्भ काल में मीमांसा दर्शन में ईश्वर को प्रमेय रूप में नहीं स्वीकार किया गया किन्तु परवर्ती युग में ईश्वर को अंगीकार कर यज्ञादि की सिद्धि की गई और इसीलिए परवर्ती मीमांसकों ने अपने ग्रन्थारम्भ और ग्रन्थान्त में ईश्वर की वन्दना की है।[2]

एक ग्रन्थ में श्लोकवार्तिक, न्यायरत्नमाला, न्यायकणिका, मीमांसा परिभाषा, तन्त्रवार्तिक आदि के उन श्लोकों को उद्धृत किया गया है, जिनमें ईश्वर की वन्दना करते हुए उसे विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक, आनन्द और अमृत -

- -

1• सेoमीoवेoदेo ,पृo 16; इoपूoमीo, पृo 12।

2• साo ,पृo 497

स्वरूप, क्लेश के परामर्शन की क्षमता वाला, उसमें सब कुछ अधिष्ठित तथा ब्रह्म रूप में उपस्थापित किया गया है।[1] और इस प्रकार से ईश्वर को स्वीकार करने का अपना अभिमत प्रकट किया गया है।

मोक्षस्वरूप :-

मीमांसा में यह निरूपित किया गया है कि संसार का प्रपन्च तीन प्रकार से मनुष्य को बन्धन में डालता है। इसके ये तीन प्रकार हैं - भोगायतन शरीर, भोग साधन इन्द्रियाँ, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषय। इन तीनों के द्वारा मनुष्य संसार में सुख-दुखादि का अनुभव करता हुआ अनादिकाल से बन्धन में पड़ा रहता है। इन तीनों से निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष स्वरूप है। मोक्ष की इस दृष्टि को ही भट्ट मत कहा जाता है जिसमें उन्होंनें लिखा है कि संसार के प्रपंच सम्बंध का विलय ही मोक्ष है-

आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः।[2]

आचार्य प्रभाकर यह मत प्रतिपादित करते हैं कि धर्म तथा अधर्म के निःशेष रूप से नाश हो जाने से देह का आत्यन्तिक नाश हो जाता है। यथार्थ में तो धर्माधर्म के वशीभूत होकर जीव नाना योनियों में भ्रमण करता है। धर्म अधर्म के विनष्ट होने से इनके कारण प्राप्त देह, इन्द्रिय और विषय के विषय के सम्बंध में सर्वथा रहित होकर जीव बन्धनों से छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है।[3] इसी को मिश्र आचार्यइस रूप में कहते हैं:-

सकलबुद्ध्यादि विशेषगुणविलये सत्यात्मनः स्वरूपावस्थानंमोक्षः।[3]

---

1. मी०प्र०, पृ० 257-260
2. प्र०पं०, पृ० 349-350
3. शा० दी०, पृ० 125

मोक्ष के इस स्वरूप को मीमांसक चार रूपों में मानते हैं- ऐसा भी कुछ आचार्यों ने प्रतिपादित किया है। ये चार रूप हैं- सालोक्य, सामीप्य,सारूप्य और सायुज्य। इसमें क्रम से इष्ट के परिवार की प्राप्ति, इष्ट की समीपता,ईश्वर की स्वरूपावस्था,ईश्वर में स्थान की प्राप्ति कही गई है।[1] इसमें भी एक आचार्य मोक्ष को ज्ञानाभाव और दूसरे आचार्य जीव की सत्ता का शेष रहना स्वीकार करते हैं।[2]

उत्तरमीमांसा:-

इस दर्शन का परिचायक ग्रन्थ वेदान्तसूत्र अथवा ब्रह्मसूत्र है, जो उपनिषदों को आधार बनाकर ग्रथित किया गया है। इसका प्रयोजन उपनिषद् वाक्यार्थ निर्णयपूर्वक ब्रह्मजीवैक्यरूप अखण्डार्थ बोध कराना है। इसीलिए इसका दूसरा नाम उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। वेदार्थ प्रधानरूप से धर्म और कर्म के रूप में होने से पूर्वमीमांसा के माध्यम से व्याख्यात होता है और ब्रह्म-विचार के माध्यम से उत्तरमीमांसा इसकी व्याख्या करता है। इनदोनों का यह उद्देश्य इनके द्वारा रचित सूत्रों के आदि सूत्र में भी देखा जा सकता है। पूर्व मीमांसा का यदि प्रथम सूत्र है-
अथातोधर्म जिज्ञासा तो उत्तरमीमांसा के सूत्रग्रन्थ ब्रह्मसूत्र का प्रथमसूत्र है-
ब्रह्म जिज्ञासा[3]।

---

1. सा०सु०,पृ० 19
2. मी०प्र०,पृ० 279
3. ब्र०सू०शा०,पृ० 13

ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में लिखा गया है और उसके प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं । इसके प्रथम अध्याय का नाम समन्वयाध्याय है जिसमें समग्र वेदान्त वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य दिखाया गया है। द्वितीय अध्याय में ब्रह्म विषयक वाक्यों का तथा तृतीय अध्याय में वेदान्त सम्मत साधनों का निरूपण है और इसी लिए इसका नाम साधनाध्याय है। ब्रह्मसूत्र के चतुर्थ अध्याय का नाम फलाध्याय है, जिसमें सगुण- निर्गुण विद्याओं के फलों का सांगोपांग निरूपण किया गया है। इस प्रकार से यह ब्रह्मसूत्र एक प्रकार से ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य रखकर ही सम्पूर्ण विवेचन करता है। इसके भाष्यकार अद्वैतवादी आचार्य शंकर आत्मा की सत्ता को स्वयं सिद्ध मानते हैं और उसकी भिन्नता से पृथक् किसी सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं।[1]

ब्रह्मसूत्र के दूसरे भाष्यकार विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य चित्, अचित् तथा ईश्वर के रूप में तीन शक्तियों को स्वीकार करते हैं। इनमें से ईश्वर ही चित् तथा अचित शक्तियों से युक्त रहता है वही एक मात्र शक्ति और सत्ता है। यह सम्भवत: श्वेताश्वतर की उस कल्पना के निकट है जिसमें वहाँ पर भोक्ता, भोग्य और प्रेरक का नाम लिया गया है।[2]

मध्वाचार्य जिस द्वैतमत की स्थापना करते हैं उसके अनुरूप परमात्मा साक्षात् विष्णु है और वह अनन्त गुणों से परिपूर्ण है। उत्पत्ति स्थिति और लय के नियामक वही हैं। इनके सभी अवतार भी मत्स्यादि

- -

1. भा०द० {ब} ,पृ० 638

2. वही 1/12; भा०द०{ब}, पृ० 392

परिपूर्ण हैं।[1] आचार्य निम्बार्क ने द्वैताद्वैत की स्थापना करके यह मत प्रतिपादित किया है कि ईश्वर सगुण है और वह प्रकृति के समस्त दोषों से रहित है। उसमें अशेष बल, ज्ञान और शक्ति है।[2]

इस प्रकार से इस परम्परा का विकास पर्याप्त रूप से हुआ और आचार्यों की एक लम्बी परम्परा इस भूमि पर रही। यहाँ पर मुख्यत: अद्वैतवादी आचार्य शंकर की आत्मावधारणा को निरूपित करना है। इसलिए इन दर्शनों में जीव, जगत् , माया, सृष्टि आदि का विचार न करके अगले अध्याय में इनका विवेचन अद्वैतवादी दृष्टि से किया जावेगा।

---

1. भा०द० (ब०), पृ० [illegible] 405
2. वही, पृ० 411

चतुर्थ अध्याय

(शाङ्कर वेदान्त में आत्मा की अवधारणा)

चतुर्थ अध्याय

****
****
******
****
**

§ शाङ्कर वेदान्त में आत्मा की अवधारणा §

वेदान्त, आचार्य शङ्कर के पूर्वाचार्य, वादरायण तथा ब्रह्मसूत्र, आचार्य गौडपाद, शङ्कर तथा उनकी रचनाएँ, अन्य आचार्य, माया और उसका स्वरूप, माया की व्यापकता, ईश्वर का स्वरूप, ईश्वर की विभुता, ईश्वर की सृष्टिकारणता, जीव, आत्मा का सृष्टिकारणत्व, आत्मा और उसका स्वरूप, आत्मा का बन्ध और मोक्ष, प्रमाण, प्रमाणों की गतार्थता, ब्रह्म स्वरूप, सृष्टि का कारणरूप ब्रह्म, ब्रह्म उपादान या निमित्तकारण, सृष्टि प्रलय, आत्मा तथा ब्रह्म में साम्य- वै वैषम्य ।

चतुर्थ अध्याय

{शाङ्कर वेदान्त में आत्मा की अवधारणा}

वेदान्त :-

आचार्य सदानन्द ने उपनिषदों को प्रमाण स्वरूप मानकर चलने वाले शास्त्र वेदान्त हैं तथा तदनुसार तदुपकारक शारीरिक सूत्र भी वेदान्त ही हैं[1] - ऐसा लिखकर एक प्रकार से उपनिषद् दर्शन तथा उपनिषदों के विचारों को पुष्ट तथा पल्लवित करने वाले साहित्य को वेदान्त दर्शन कहा है। यद्यपि वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग होने से उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है और यही केवल वेदान्त का शाब्दिक अर्थ भी है किन्तु वेद के अंतिम अथवा चरम लक्ष्य {ब्रह्मविचार} के प्रतिपादक होने के नाते से भी उपनिषद् वेदान्त कहे गये हैं।[2]

उपनिषद् विद्या के प्रतिपादक ग्रन्थों के लिए और ब्रह्म विषयक ज्ञान प्रतिपादक ग्रन्थों के लिए वेदान्त शब्द के प्रयोग स्वयम् उपनिषदों में ही किये गये हैं। जैसे श्वेताश्वतर उपनिषद् में तथा माण्डूक्य उपनिषद् में उपनिषदों की गुह्य विद्या के लिए ही वेदान्त शब्द का प्रयोग किया गया है और आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में इसे प्रमाणित भी किया है।[3] ब्रह्मसूत्र में

---

1. वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिक सूत्रादीनि च।

वे0सा0,पृ0 50

2. वे0उ0स0आ0,पृ0 18

3. वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् । वही ,पृ0 217

x x x x

वेदान्त इति जात्येकवचनम्। सकलासूपनिषत्स्विति यावत् ।

शांकर भाष्य। वही,पृ0217

x x x x

ई0द्वा0उ0,पृ0 68

भी इसी तरह से ब्रह्म की उपासना का आधार वेदान्त को ही निरूपित किया है।[1] जिससे यह विदित होता है कि ब्रह्म-विचारक शास्त्र वेदान्त कहे गए हैं।

आचार्य शङ्कर के पूर्वाचार्य :

वेदान्त और इसमें भी अद्वैत वेदान्त की सम्पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय आचार्य शंकर को है- निर्विवाद है। इस आचार्य की इस विचारधारा की स्थापना के लिए पूर्व में किन आचार्यों की अवधारणा मुख्य रूप से मूल में रही यह निर्धारित कर पाना तो कठिन है किन्तु इतना अवश्य अनुमानित किया जा सकता है कि वेदान्त की विचारधारा के उद्भावक अन्य आचार्य भी पूर्व में थे जिनका संकेत अनेक स्थानों में प्राप्त होता है।

यद्यपि उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र आचार्य शंकर की अद्वैत स्थापना के मूल में हैं किन्तु अन्य आचार्यों में आत्रेय, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कार्ष्णाजिनि, बादरि आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। स्वयम् आचार्य शंकर ने उपवर्ष, सुन्दर पाण्ड्य आदि का उल्लेखकर इन्हें अपने पूर्व वेदान्त के आचार्य के रूप में जाना है।

आत्मा प्रदेशमात्र कैसे हो सकती है, इसका समाधान करने के क्रम में आचार्य आश्मरथ्य[2] का, आत्मा और परमात्मा की मुक्ति दशा में एकता प्रतिपादित करने के क्रम में औडुलोमि[3] का, चरण तथा अनुशय शब्द के विश्लेषण में कार्ष्णाजिनि[4] का संकेत ब्रह्मसूत्र में आया है। इसी तरह से आचार्य उपवर्ष

---

1. ब्र०सू०शा०, पृ० 763
2. अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः । ब्र०सू०शा०, पृ० 199
3. वही, पृ० 345
4. वही, पृ० 678

तथा सुन्दरपाण्ड्य का उल्लेख स्वयम् भगवान आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में तद्-तद् स्थानों पर किया है।[1] जिससे आचार्य शंकर के पूर्व वेदान्त की परम्परा के शीर्षों का अस्तित्व यत् किंचित रूप से ज्ञात होता है।

बादरायण तथा ब्रह्मसूत्र :-

वेदान्त का क्रमबद्ध रूप वेदान्त सूत्रों में ही दिखाई देता है, क्योंकि इनके पूर्व वेदान्त दर्शन का मूल यत्र-तत्र बिखरा हुआ था और इसके प्रतिपादन का कोई एक आधार ग्रन्थ नहीं था। यद्यपि इस विषय में, आचार्य बादरायण के पूर्व रचित ब्रह्मसूत्र का उदाहरण लेते हुए भी, यह कहा जाता है कि कई ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र रचे जा चुके थे। किन्तु यदि ऐसा था भी तो भी ब्रह्मसूत्र की क्रमबद्धता की विचारशैली के कारण अथवा इसकी पूरी प्रतिष्ठा होने के कारण अब उन ब्रह्मसूत्रों की प्रामाणिकता कम हो गई है।[2]

आचार्य बादरायण जिन्हें महर्षि पराशर के पुत्र वेदव्यास के रूप में जाना भी जाता है और इसके विपरीत उन्हें पुराण रचयिता व्यास के अतिरिक्त भी स्वीकार किया जाता है। इन मत-मतान्तरों के विस्तार में न जाकर कुछ सन्दर्भ देकर यह कहा जा सकता है कि "वेदव्यासश्चैवमेवस्मरति," "बादरायणस्त्वाचार्यो, स्मरन्ति च व्यासादयो यथा जैवेन दु:खेन न परमात्मा दु:खायत इति" का उदाहरण देकर कुछ विद्वान् यह मत व्यक्त करते हैं कि इन उदाहरणों में वेदव्यास, बादरायण और व्यास जैसे भिन्न-भिन्न नाम आने

---

1. वही, पृ0 875; भा0द0, पृ0 349
2. उद्धृत, ब्र0सू0शां0, पृ0 5

के कारण व्यास को एक ही आचार्य नहीं माना जा सकता तथा बादरायण का नाम व्यास से भिन्न होना चाहिए, किन्तु जो आचार्य व्यास और बादरायण को एक ही आचार्य मानते हैं वे यह प्रतिपादन करते हैं कि व्यासोक्त महाभारत के अंशभूत ग्रन्थगीता में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख उन्हीं ऋषि व्यास का संकेत करता है जिन्होंनें पुराणों की संरचना की।[1]

इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र के अंतिम सूत्र की उपस्थापना करते हुए आचार्य शंकर ने शंका की निवृत्ति के लिए कहा कि आचार्य बादरायण यह उत्तर पढ़ते हैं जिससे ब्रह्मसूत्र के रचनाकार के रूप में बादरायण का आचार्यत्व सिद्ध होता है।[2] इसी प्रकार से ऋषि महर्षियों के देहान्तर - प्राप्ति के निरूपण में भी आचार्य शंकर ने स्पष्ट रूप से वेदान्ती कृष्णद्वैपायन का स्मरण किया है।[3]

बादरायण सूत्रों का ग्रन्थन कब हुआ, इस सन्दर्भ में भी मत भिन्नता है। गीतादि में उल्लिखित होने से जहाँ इसकी प्राचीनता सिद्ध है, वहीं पर कुछ विद्वान् इसे अपेक्षाकृत नवीन कृति मानते हैं। जैकोबी ने इसे 250 ईसवीय से 450 ईसवीय के मध्य रचित माना है। मैक्समुलर ने इसे 200 ईसवीय की रचना बताया है।[4]

---

1. ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
   ब्रह्मसूत्र पदैश्चैव हेतुमदिर्विनिश्चितैः।। भ०गी०, पृ० 208
2. नन्वेवं सति सातिशयत्वादन्तवत्वमैश्वर्यस्य स्यान्ततश्चैषामावृत्तिः प्रसज्येतेत्यत उत्तरं भगवान्बादरायण आचार्यःपठति। ब्र०सू०शां०, पृ०1074
3. तथाह्यपान्तरतमा नाम वेदाचार्यः पुराणर्षिविष्णुनियोगात्कपिलद्वापरयोः सन्धौ कृष्णद्वैपायनः संबभूवेति स्मरन्ति। वही, पृ० 832
4. ज०ओ०ए०सो०, पृ० 1-29 ; सि०इ०फि०, पृ० 113

आचार्य बादरायण का यह ग्रन्थ ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों में विभक्त है जिसमें प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद है। इसके प्रथम में सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में तात्पर्य दिखाया गया है। इसका द्वितीय अध्याय, जिसे अविरोधाध्याय का नाम दिया गया है, स्मृति, तर्क आदि के द्वारा सम्भावित विरोध का परिहार कर ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित करता हैं। इसके तृतीय अध्याय का नाम साधनाध्याय है जो वेदान्त सम्मत साधनों का विधान करता है और चतुर्थ अध्याय फलाध्याय है, जिसमें निर्गुण विद्याओं का सम्पूर्णता के साथ विवेचन है।

आचार्य गौडपाद :

माण्डूक्यकारिका अथवा गौड़पाद-कारिका अद्वैत वेदान्त का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके आचार्य गौड़पाद उपनिषद् सिद्धान्तों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक आचार्य कहे जा सकते हैं। दर्शन के इतिहासकार यह मत व्यक्त करते हैं कि आचार्य गौडपाद पर शून्यवाद और विज्ञानवाद का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। उन्होंनें जहाँ एक ओर उपनिषद् सिद्धान्तों को अपनी भाषा और पुष्ट अभिव्यक्ति के माध्यम से स्वर दिया वहीं उन्होंनें नागार्जुन तथा वसुबन्धु के दर्शन का सुन्दर समन्वय भी उपस्थित किया है।[1]

आचार्य शंकर ने गौडपादकारिका से एक कारिका उद्धृत कर[2] आचार्य को "वेदान्तसम्प्रदायविद्भि:" कहा है और इसी से यह माना जाता है

---

1. बौ० वे०, पृ० 104

2. अनादिमायया सुप्तो यदा जीव: प्रबुध्यते।
   अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।। ब्र० सू० , 385

कि गौडपादाचार्य शंकराचार्य के पूज्य गुरु थे जिनकी प्रेरणा आचार्य शंकर के लिए पृष्ठपोषण का काम करती रही है। इसी प्रकार से आचार्य सुरेश्व - राचार्य भी उन्हें पूज्यभाव से स्वीकार करते हैं। इस रूप में आचार्य गौडपाद को आचार्य शंकर से कुछ ही पूर्व के समय का माना जा सकता है, जो लगभग षष्ठ शतक हो सकता है।[1]

शंकर तथा उनकी रचनायें:-

आचार्य शंकर का प्राकट्य भारतीय दर्शन के क्षेत्र में विशेषकर वेदान्त के क्षेत्र में एक विशिष्ट और आहलादकारी घटना है। इनके जन्म - समय के सम्बंध में अनेक मत प्रचलित हैं।

इन मतों के विस्तार की और उनके समीक्षा की यद्यपि यहाँ प्रस्तुति का सन्दर्भ नहीं है तथापि आचार्य शंकर को टी०आर० चिन्तामणि 655 से 688 शताब्दी के समय का मानते हैं।[2] डा० के०बी०पाठक ने अपने एक लेख में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि शंकराचार्य 788 से 820 शताब्दी के अन्तराल के आचार्य हैं, किन्तु प्रोफेसर चिन्तामणि का मत ही बहुतायत से स्वीकृत है।[3] भारतीय परम्परा के अनुसार इनका प्राकट्य दिवस वैशाख शुक्ल तृतीया विक्रम सम्वत् 686 माना गया है।[5]

---

1. बौ०वे०, पृ० 222
2. ज०ओ०आर०मै०, 1929, पृ० 37-55
3. इ०ए०,पृ०173-175
4. ब्र०सू०भू० ,पृ० 13
5. आ०वि०भू० , पृ० 7

जैसे आचार्य शंकर की जन्मतिथि में वैविध्य है उसी प्रकार से इनकी रचनाओं के सम्बंध में भी मत-भिन्नता है। कहा यह जाता है कि आचार्य ने कम से कम दो सौ ग्रन्थ अवश्य ही रचित किये हैं किन्तु जिनका विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है वे हैं ब्रह्मसूत्रभाष्य, एकादश उपनिषद् भाष्य तथा गीताभाष्य। इसके अतिरिक्त स्तोत्रग्रन्थ तथा प्रकरण ग्रन्थ भी आचार्य ने रचित किये हैं।[1]

अन्य आचार्य :-

आचार्य शंकर के मूल वेदान्तिक विचारों को लेकर अन्य अनेक आचार्यों ने अपनी-अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं तथा वेदान्त दर्शन तत्त्व विचार को आगे बढ़ाया है,प्रचार किया है और इसके प्रसार में सहायक हुए हैं।

आचार्य शंकर के शिष्यों में सुरेश्वराचार्य मुख्य थे। गृहस्थाश्रम में इनका नाम मण्डनमिश्र था- ऐसी मान्यता प्राय: स्वीकार्य है। कहा जाता है कि आचार्य से शास्त्रार्थ में पराजित होने के पश्चात् मण्डन मिश्र ने आचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया था।[2] आचार्य सुरेश्वर के बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्यवार्तिक, तैत्तरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक ,ब्रह्मसिद्धि आदि रचनायें प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त इनके मीमांसा दर्शन के ग्रन्थ प्राप्य हैं।

वाचस्पति मिश्र ने शांकरभाष्य पर भामती नाम की टीका लिखी है जो महत्वपूर्ण और पाण्डित्यपूर्ण होने के साथ-साथ वेदान्त दर्शन के गूढ़

1-वही पृ0 39

2-आ0वि0भू0 ,पृ0 27

तत्वों का विश्लेषण विधिवत् करती है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती की अद्वैत सिद्धि रचना भी वेदान्त की विचारपरम्परा में बहुत मान्य है जबकि इनकी अन्य रचनायें हैं-सिद्धान्तविन्द,वेदान्तकल्पलतिका तथा अद्वैतरत्नरक्षण।[1]

आचार्य माधव के सन्दर्भ में यह विवेचन प्राप्त है कि वे संन्यासी होकर जब श्रृंगेरी मठ पर अधिष्ठित हुए थे तो उनकी प्रसिद्धि विद्यारण्य के नाम से हुई थी। आचार्य शंकरानन्द तथा भारतीतीर्थ इनके गुरु थे। इसी प्रकार से पन्द्रहवीं शताब्दी में आनन्दगिरि ने आचार्य शंकर भाष्यों को और सरलीकृत करने की दृष्टि से तथा सुबोध बनाने की दृष्टि से टीकाएँ लिखी।[2] इसी प्रकार से अन्य और भी आचार्य हैं जिन्होंनें इस परम्परा को समृद्ध किया ।

माया और उसका स्वरूप :-

मायाके स्वरूप का ज्ञान करने के लिए हम श्वेताश्वतर उपनिषद् के उस मन्त्र से प्रारम्भ कर सकते हैं जिसमें कहा गया है कि माया को प्रकृति और मायावी को महेश्वर जानना चाहिए। उसी के अवयवभूत से यह सारा संसार व्याप्त है। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने यह लिखा है कि संसार की प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर ही मायावी हैं । उस मायावी महेश्वर के अवयवों से ही यह सारा संसार ओत प्रोत है।[3]

---

1. भा0द0,पृ0352
2. भा0द0(ब),पृ0 343,344
3. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
   तस्यावयवभूतस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।। वही, पृ0 156

   x x x x

   मायात्विति। जगत्प्रकृतित्वेनाधस्तात्सर्वत्र प्रतिपादिता प्रकृतिमायैवेति विद्यादिजानीयात् । शाङ्करभाष्य वही, पृ0 156

माया के इस मिथ्या ज्ञान से ही आत्मा-अनात्मा का परस्पर तादात्म्य निश्चय कर और उनके चैतन्य तथा जाड्यादि धर्मों का अध्यास कर यह लोक व्यवहार प्रसिद्ध है। मैं इस शरीरादि रूप कर्ता,भोक्ता आदि हूं, मेरे ये शरीर मित्रादि हैं। वे मिथ्या व्यवहार सत्यात्माऔर अनृत आत्मा को मिथुन बनाकर नैसर्गिक रूप से प्रवृत्त हैं। इससे इनके वासना अज्ञानादि रूपकारण भी अनादि हैं। पूर्व के असत्य साधन से ही पर पर के असत्य अध्यास होते हैं।[1]

प्रश्नोपनिषद् में जब यह पूछा गया कि विरज सूर्य के समान जो प्रकाश युक्त आत्मभाव है, वह किसे प्राप्त होता है और किसे नहीं तो वहाँ पर माया की मायात्मकता तथा उनके अनृत और कपटी रूप का आख्यान किया गया है। यह कहा गया है कि अपने आपको बाहर से अन्य प्रकार से प्रकट करना तथा अन्यथा कार्य करना मिथ्याचार माया है।[2]

एक स्थान पर मायोपहित चैतन्य को ईश्वरसाक्षि चैतन्य कहा गया है और उस चैतन्य की उपाधिभूत माया एक है। इसी माया के कारण

- -

1. तथाप्यन्योन्यऽस्मिन्नन्योन्यात्मकतामन्योऽन्यधर्मांश्चाध्यस्येतरेतरा- विवेकेन.................. सत्यानृते मिथुनीकृत्य, अहमिदं ममेद- मिति नैसर्गिकोऽयंलोकव्यवहार: । ब्र0 सू0 शा0 ,पृ0 ।2

2. माया नाम बहिरन्यथात्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा। प्र0 उ0,पृ0 30

इन्द्र बहुत को प्राप्त हुए"- यह उदाहरण देकर माया के मायात्व को प्रकट किया गया है।[1]

इस सन्दर्भ में माया का और विश्लेषण करते हुए यह प्रतिपादन किया गया है कि माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब चैतन्य में ईश्वरत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि हो तब चैतन्य में साक्षित्व होता है।[2]

माया और अविधा :-

माया के इस स्वरूप को ही अज्ञान, अविधादि शब्दों से भी बोधित किया गया है। सदानन्द योगीन्द्र ने अज्ञानरूपा अविधा का लक्षण दिया है कि यह सत्-असत् रहित जो अवर्णनीय है, त्रिगुणात्मक ज्ञानविरोधी तथा भावरूप है। जिसके अनुभव से मैं अज्ञ हूं - ऐसा कहा जाता है।[3]

अविधा के रूप में जिस अज्ञानात्मक शक्ति का आख्यान किया गया है उसके लिए भी यही कहा गया है कि अविधा से ग्रस्त जीव अपनी आत्मस्वरूपावस्थिति के पूर्व अपररूप देह को ही अविधा के कारण आत्मभाव

---

1. ईश्वरसाक्षिणु मायोपहितं चैतन्यम् । तच्चैकम्। तदुपाधिभूत मायाया एकत्वात् । वे० प०, पृ० 89
2. मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायायाः विशेषणत्वे ईश्वरत्वम् उपाधित्वे साक्षित्वमिति ईश्वरत्व साक्षित्वयोर्भेदः। वही, पृ० 92
3. अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्मकं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभवात् । वे० सा० , पृ० 73

से समझता है।[1] इसका अभिप्राय यह हुआ कि अविद्या जीव के यथार्थ ज्ञान में बाधक होती है अथवा अविद्या से आबद्ध जीव यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाता ।

अविद्या के साथ जिस प्रकार माया शब्द का प्रयोग किया गया है उसी तरह से वेदान्त ग्रन्थों में अज्ञान को अविद्या के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि अहंकारादि से समर्थित जीव का अविवेक कब विनष्ट होता है तो उत्तर के रूप में यह प्रतिपादन है कि अज्ञान का जब सर्वथा विनाश हो जाता है तो सभी तरह की अविद्या स्वत: विनष्ट हो जाती है।[2] इससे यह प्रतीति भी की जा सकती है कि अविद्या का आधार अविवेक अथवा अज्ञान है।

अविद्या को अनादि माया और कारण उपाधि के रूप में भी कहा गया है। इसमें अनादि का अभिप्राय आदि रहित,अविद्या का अभिप्राय मायापरपर्याय अज्ञानता कहा गया है।[3]

- -

1· प्रागेतस्या: स्वरूपसम्पत्तेरविद्यया देहमेवापरं रूपमात्मत्वेनोपगत इति तदपेक्षयेदमुच्यते स्वेन रूपेणेन। छा0उ0,पृ0833 पर शांकरभाष्य ।

2· कदा अभिमान निवृति:? सर्वात्मना अविवेके निवृत्ते सति। कदा अविवेक निवृत्ति:? सर्वात्मना अज्ञाने निवृत्ते सति। कदा अज्ञान निवृत्ति: ? ब्रह्मात्मैकत्वे जाते सति अविद्यानिवृत्ति: सर्वात्मनाभवति। आ0वि0पृ0।2

3· अनाद्यविद्यानिर्वाच्या कारणोपाधिरूच्यते।
उपाधित्रितयादन्यमात्मानवधारयेत् ।। वही ,पृ0 36
x x x
अनादि आदिरहितम्,अविद्या मायापरपर्याया अज्ञानता। भाष्य,वही,पृ037

ब्रह्मसूत्र में आचार्य शंकर माया के भ्रमात्मक निर्माण और प्रतीति के लिए अविधा शब्द का प्रयोग करते हैं और यह प्रतिपादित करते हैं कि जैसे जागने के पहले स्वप्न के व्यवहार सत्य प्रतीत होते हैं वैसे ही ब्रह्मात्मता के पहले तक सभी व्यवहार सत्य ज्ञात होते हैं। यह विकारों के कारण होता है और विकारों को ही सभी प्राणी अविधा से आत्मरूप से आत्म सम्बंधी रूप में मेरा और मम का भाव ब्रह्मता के पूर्व तक समझता है।[1]

स्वप्न की सृष्टि और जीव का ब्रह्मांश कहा जाने आदि के सन्दर्भ में पूर्वाचार्यों की शंकाओं और आपत्तियों का निराकरण करते हुए आचार्य ने कहा है कि स्वप्न सृष्टि से मिलाकर अभाववादियों की तरह मायात्मक सृष्टि को अपलाप सृष्टि नहीं कहा जा सकता। यह सृष्टि मायामात्र सृष्टि है। इसी प्रकार से ब्रह्म और जीव के अंश और अंशी के सम्बन्ध को अग्नि और स्फुलिंग की भाँति प्रकाशकत्व और दाहकत्व होने पर भी जीव में असत्यादि प्रत्यक्ष हैं। यहाँ पर भी इन दोनों के पार्थक्य को मायात्मक ही जाना जाना चाहिए।[2]

- -

1• विकारानेव त्वहं ममेत्यविद्यात्मात्मीयेन भावेन सर्वो जन्तुः प्रतिपद्यते स्वाभाविकीं ब्रह्मात्मतां हित्वा••••। ब्र0 सू0 पर शां0 भां0, पृ0399

2• मायामात्रत्वान्तर्हि न कश्चित्स्वप्ने परमार्थगन्धोऽस्ति।नेत्युच्यते।
•••••••सूचकस्य हि स्वप्नोभवति भविष्यतोः साध्वसाधुनोः।
••••••तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामात्रत्वम्।ब्र0सू0शां0 भा0,पृ0 702
x x x x x x x
अथापि स्यात्परस्यैव तावदात्मनोंऽशो जीवाऽग्नेरिव विस्फुलिङ्गःतत्रैव सति यथाग्निविस्फुलिङ्गयोः •••••सत्यपि जीवेश्वरयोरशांशिभावे प्रत्क्षमेव जीवस्येश्वरविपरीतधर्मत्वम्। तस्मादुपपन्नं स्वप्नस्य मायामत्रत्म्।
ब्र0सू0शां0 भाष्य, पृ0 704-706

माया की व्यापकता :

माया और अविद्या तुल्यार्थक रूप में प्रयुक्त हैं और इनका व्यापक प्रभाव है। यह आचार्य शंकर ने स्थान-स्थान पर निरूपित किया है। जैसे यह कहा गया कि कूटस्थ ब्रह्म भी अपनी माया उपाधि के कारण अर्थात् माया शक्ति के कारण सबका स्रष्टा का जा सकता है। इस कार्यकारणात्मक प्रपञ्च में वह परमात्मा अपनी माया के कारण बंधा हुआ है।[1]

अन्यत्र माया की व्यापकता का आख्यान इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि संसार में विपरीत प्रतीति के कारण को विश्व माया कहा गया है। यह मत आचार्य शंकरानन्द का है।[2] नारायणाचार्य का यह मत है कि सारी माया ही विश्व है। आचार्य शंकर माया की विशालता और उसकी व्यापकता का कथन करते हुए कहते हैं कि सुख, दु:ख एवं मोहमय सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप माया है जो अहं ब्रह्मास्मि के अनुभव से निवृत्त हो जाती है।[3]

---

1. मायीति कूटस्थस्यापि स्वशक्तिवशात्सर्वस्रष्टुत्वमुपपन्नमित्येतत्। विश्वं पूर्वोक्तप्रपञ्चं सृजत उत्पादयति। स्वमायया कल्पिते तस्मिन्भूतादिप्रपञ्चे माययैवान्य इव संनिरुद्ध: संबद्धो विद्यावशगो भूत्वा संसारसमुद्रे भ्रमतीत्यर्थ:। श्वे•, पृ० 150 पर शांकरभाष्य ।
2. विश्वस्य माया विपरीतप्रतीतिस्तत्कारणं च विश्वा चासौ माया चेति वा तस्या निवृत्ति: सर्वात्मनाऽनुभव:। वही, पृ०72 की पाद टिप्पणी।
3. "अहं ब्रह्मास्मि" इति भूयश्चासकृदन्ते प्रारब्धकर्मान्ते यदा स्वात्मज्ञान निष्पत्तिरनन्तस्तस्मिन्स्वात्मज्ञानोदयवेलायां विश्वमायानिवृत्ति:। सुख-दु:खमोहात्मकाशेषप्रपञ्चरूपमायानिवृत्ति:।

वही, पृ० 70 तथा हिन्दी व्याख्या

अविधा के विस्तार का आख्यान इन शब्दों में और किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि अविधा के भीतर विद्यमान अपने को महान् बुद्धिमान् मानने वाले, कुटिलगति का आलम्बन करने वाले मूढ पुरूष अन्धे से ही परिचालित अन्धे के समान अनेक कुटिल गतियों को प्राप्त होते हैं। आचार्य शंकर इसकी व्याख्या में अविधा में पुत्र-पशुओं को मानते हुए तृष्णा के सहस्त्रों पाशों से युक्त जीव को उसी प्रकार परिचालित मानते हैं जैसे अन्धे अथवा दृष्टिहीनपुरूष विषम मार्ग से चलते हुए अनर्थ को प्राप्त होते हैं। वे जरा, मरण तथा रोगादि दु:खों को अविधा के कारण ही भोगते हैं।[1]

संसार की कामनाओं का मूलत: विनाश कब होता है इस पर अपना समाधान प्रस्तुत करते हैं हुए आचार्य शंकर यह अभिमत देते हैं कि जिस समय जीवितावस्था में ही हृदय-बुद्धि की सब ग्रंथियाँ अर्थात् बन्धनरूप अविधा-जनित प्रतीतियाँ छिन्न-भिन्न होजाती हैं तब वह मर्त्य अमर हो जाता है। क्योंकि यह शरीर मैं हूं, यह धन मेरा है, मैं सुखी और दु:खी हूं- इस प्रकार का अनुभव अविधा प्रत्यय है।[2]

---

1. अविधायामन्तरे मध्ये धनीभूत इव तमसि बर्तमाना वेष्ट्यमाना:पुत्रपशवा-दितृष्णापाशशतै:। स्वयं वयं धीरा: प्रज्ञावन्त: पण्डिता: शास्त्रकुशला-श्चेति मन्यमानास्ते-------------अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमेपथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थ-मृच्छान्ति तद्वत्।

 – क0शां0, पृ0 44 पर शाङ्करभाष्य; दृष्टव्य सत्यानन्द दीपिका।

2. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्यबुद्धेरिह जीवत एवं ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविधापत्यया इत्यर्थ:। अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दु:खी---------तन्निमित्ता: कामा मूलतो विनश्यन्ति।

 –वही, पृ0 152-153 पर शांकरभाष्य तथा सत्यानन्ददीपिका।

ईश्वर का स्वरूप :

वेदान्त परिभाषा में ईश्वर के स्वरूप का आख्यान करते हुए कहा गया है कि मायावच्छिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। माया जब चैतन्य में विशेषण होती है तब चैतन्य में ईशत्व होता है और माया जब उसमें उपाधि होती है तब उसमें साक्षित्व होता है। किन्तु ईश्वर एक होने पर भी उसकी उपाधि-भूतमाया में रहने वाले सत्व, रज, तम इन गुणों के भेद से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर शब्दों की वाच्यता पाता है।[1]

सदानन्द योगीन्द्र ने भी ईश्वर के स्वरूप-निर्धारण में इसी तरह से अपना भाव व्यक्त करते हुए लिखा है कि अज्ञान व्यष्टिगत और समष्टिगत होने से दो प्रकार का होता है। यह समष्टिगत अज्ञान ही जब चैतन्य को अभिभूत करता है तब वह चैतन्य सर्वज्ञाता, सर्वनियन्ता, आदि गुणों से व्यवहृत किया जाने लगता है। इसी चैतन्य को जगत् का कारण और ईश्वर पद से कहा जाता है।[2]

---

1. मायावच्छिन्नं चैतन्यं परमेश्वरः, मायाया विशेषणत्वे ईश्वरत्वम्,
उपाधित्वे साक्षित्वमिति................।
स च परमेश्वरः एकोऽपि स्वोपाधिभूत मायानिष्ठसत्वरजस्तयो
गुणाः तेषां भेदेन ....। वही, पृ० 92

x x x x

सृष्टिस्थित्यन्तकरणी ब्रह्मविष्णुशिवात्यकाम्
स संज्ञां याति भगवानेक एव जनार्दनः ।। वि० पु० , पृ० 55
2. एतदुपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियन्तृत्वादिगुणकमव्यक्तमन्तर्यामी
जगत्कारणमीश्वर व्यपदिश्यते। वे० सा०, पृ० 78

भगवान् शंकराचार्य जब ईश्वर की अवधारणा को स्वरूप प्रदान करते हैं तो लिखते हैं कि ब्रह्म के दो रूप हैं। एक है नाम, रूप आदि के विकारों की उपाधि से विशिष्ट और दूसरा है इन उपाधियों के भेद से विपरीत सर्व उपाधि-रहित। तब, अविद्या के कारण, अविद्या की अवस्था में इस ब्रह्म में उपास्य और उपासक का व्यवहार होता है। किन्तु वह एक भी उन-उन गुण विशिष्टों से विशिष्ट होकर ईश्वर उपास्य बनता है। इसी का समर्थन श्रीमद् भगवद्गीता में भी किया गया है। इसमें भी जहाँ-जहाँ विभूति आदि का अतिशयत्व होता है, वहाँ-वहाँ ईश्वर उपास्य के रूप में कहा जाता है।[1]

- -

1. द्विरूपं हि ब्रह्मावगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। ....
.....तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षण: सर्वो व्यवहार:।....
यत्र यत्र विभूत्याद्यतिशय: स स ईश्वर इत्युपास्यतया चोद्यते। ब्र0 सू0 शां0 भाष्य, पृ0 90

x x x x

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजन्त्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावित: ।।

x x x x

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।

भ0 गी, पृ0 136 ; 172

ईश्वर की विभुता

परमेश्वर का वैभव अनन्त है। वह अकेला है किन्तु अपनी माया रूपी शक्ति से सम्पूर्ण सृष्टि पर शासन करता है। वह अपने जाल से अर्थात् संसार का नियमन करने में अकेले ही सक्षम है। जाल से जालवान् शब्द की व्याख्या में आचार्य शंकर मायावी की शक्ति कहते हैं, उसकी यह मायावी शक्ति सारे संसार का नियमन करने में समर्थ दिखाई देती है।[1] इस पर आचार्य शंकरानन्द का यह प्रतिपादन है कि मायावी ईश्वर की वह परम शक्ति माया शक्ति ही है, जिसके अर्थ गवाक्ष, रन्ध्र, छिद्र आदि होते हैं। विज्ञान भगवान और उपनिषद् ब्रह्मयोगी का मन्तव्य है कि परमेश्वर की यह शक्ति जीवरूपी मत्स्य को अपने दुर्भेद्य जाल में फंसाती है। आचार्य शंकर श्री मद्भगवत् गीता का सन्दर्भ देकर (मम माया दुरत्यया) इसे माया कहते हैं।

उपनिषद् के मूल वाक्य में "ईशनीभिः" पद पर भी आचार्यगण अपने-अपने मत देकर ईश्वर की विभुता का संकेत करते हैं। शंकरानन्द "ईशन" शक्ति में आवरण और विक्षेप शक्तियों का योग मानते हैं। नारायण भगवान ईश्वर की "ईशत्व" शक्ति में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का योग मानते हैं। आचार्य शंकर

---

1. य एकः परमात्मा स जालवान् जालं माया दुरत्ययत्वात् ।.......
जालवान् मायावीत्यर्थः ईशत ईष्टे मायोपाधिः सन् । कैः ?
ईशनीभिः स्वशक्तिभिः । तथा चोक्तम्- ईशत ईशनीभिः परमशक्तिभिरिति ।
कान् सर्वाल्लोकानीशत ईशनीभिः। श्वे0 ,पृ0 ।।4

ईश्वर की "ईशनीभि:" शक्ति से परमात्मा की परमशक्ति का अर्थ ग्रहण करते हैं।[1]

इसी उपनिषद् में परमात्मा की विभुता इस रूप में भी कही गई है कि इस अद्वितीय परमात्मा से ही सर्व सृष्टि व्याप्त है क्योंकि वही इसमें सर्वत्र है।[2] आचार्य शंकर अपने भाष्य में लिखते हैं कि उस परमात्मा ने स्वयम् रचे हुए संसार-मण्डल को व्याप्त कर रखा है और वह शालि आदि ओषधियों में तथा अश्वत्थादि वनस्पतियों में भी विद्यमान है।[3] पुराणों में भी ईश्वर के इस प्रकार के वैभव का कथन किया गया है, जिसमें ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य के सम्पूर्णता के साथ होने के कारण भगववन् पद सार्थक कहा गया है।[4]

एक अन्य स्थान पर आचार्य शंकर यह लिखते हैं कि उस परमेश्वर के भय से अग्नि तपती है, सूर्य तपता है तथा इसी के भय से इन्द्र, वायु और पंचम मृत्यु दौड़ता है। यदि ईशन शील समर्थ लोकपालों का कोई नियन्ता न होता तो नियमित कार्य प्रवृत्ति कैसे होती है।[5]

- -

1. श्वे0 , पृ0 114-115 पर हिन्दी - अर्थ
2. वही, पृ0 126
3. यो विश्वं भुवनं स्वेन विरचितं संसारमण्डलमाविवेश। य ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु तस्मै विश्वात्मने भुवनमूलाय परमेश्वराय नमः ।
   वही, पृ0 112
4. ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसश्रिय: ।
   ज्ञानवैराग्योश्चैव षण्णां भग इतीरणा
   वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्यखिलात्मनि ।
   स च भूतष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्यय:।। वि0 पु0 , पृ0 384
5. क0 शांकर भाष्य, पृ0 136

ईश्वर की सृष्टिकारणता:-

ईश्वर सृष्टि का रचनाकार है भी अथवा नहीं, इस विषय में अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न किये गये हैं, कहा गया है कि ईश्वर यदि सृष्टि की रचना करता है तो उसका क्या अभिप्राय हो सकता है, क्योंकि वह अभिप्राय निरपेक्ष है। यदि वह निष्प्रयोजन सृष्टि की रचना करता है तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं होगा क्योंकि बिना प्रयोजन के कोई भी कार्य मन्द बुद्धि वाला भी नहीं करता है। इसके समाधान में आचार्य शंकर कहते हैं कि ईश्वर द्वारा सृष्टि में प्रवृत्त होना संगत हो सकता है क्योंकि उसके द्वारा ऐसा किया जाना निसंगत नहीं है। अपने इस मन्तव्य के समर्थन में आचार्य यह कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वर जगत का कारण है, यह अर्थ श्रुतिगत स्वशब्दों द्वारा सुना जाता है। इसलिए आचार्य यह मत व्यक्त करते हैं कि प्रधान आदि कोई अन्य जगत का कारण नहीं है।[1]

ईश्वर द्वारा सृष्टि-रचना का क्या प्रयोजन है, इस सम्बंध में यह कहा गया है कि जैसे लोक में किसी समर्थ राजा अथवा उसके मंत्री की विविध कार्य-योजनायें केवल लीला रूप में प्रवृत्त होती हैं और उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं होता है अथवा जैसे श्वास-उच्छ्वासादि स्वभाव से ही चलते हैं उसी तरह से ईश्वर की प्रवृत्ति भी केवल लीलारूप में ही होती है।[2]

---

1. स्वशब्देनैव च सर्वज्ञ ईश्वरो जगत: कारणमिति श्रूयते श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि सर्वज्ञमीश्वरं ---------------इति। ब्र०सू०शां, पृ० 87
2. यथा लोके कस्यचिदाप्तैषणस्य राज्ञो राजामात्यस्य वा व्यतिरिक्तं किंचित्प्रयोजनमभिसन्धाय केवलं लीलारूपा: प्रवृत्तय: क्रीडाविहारेषु भवन्ति, यथा----------- एवमीश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति। वही, पृ० 436

श्वेताश्वतर उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के प्रथम मन्त्र के व्याख्यान में भी आचार्य शंकर ने यह निरूपित किया है कि वह एक अद्वितीय परमात्मा वर्ण-रहित और जाति-रहित है। अपनी अनेक शक्तियों से वह अनेक वर्ण और जाति वाली सृष्टि निष्प्रयोजन होकर करता है और फिर उसी सृष्टि को अपने अन्दर लीन कर लेता है।[1]

एक अन्य स्थान में "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" तथा "सो कामयत बहु स्यां प्रजायेय " का उदाहरण देकर यह निरूपित किया गया है कि घटादि प्रपञ्च की उत्पत्ति के समय परमेश्वर उत्पाद्य प्रपञ्च की विचित्रता के कारण बनाने वाले प्राणिकर्मों की सहायता से एवं अपरिमित, अनिर्वाच्य विशेषण शक्ति-रूप माया से युक्त होकर प्रथमत: नामरूपात्मक समस्त प्रपञ्च का बुद्धि से आकलन करता है और यह उत्पन्न करूँगा ऐसा संकल्प करता है।[2] और इस रूप में निरूपित किया जाता है कि संसार के निर्माण की इच्छा उसने की और फिर नाम रूपात्मक जगत् का निर्माण किया।

- -

1. य एकोऽद्वितीय: परमात्मावर्णो जात्यादिरहितो निर्विशेष इत्यर्थ:। बहुधानानाशक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थोऽग्रहीतप्रयोजन: स्वार्थ-निरपेक्ष इत्यर्थ:। दधाति विदधात्यादौ। वही ,पृ0 142

2. अथ जगतो जन्मक्रमो निरूप्यते-तत्र सर्गाद्यकाले परमेश्वर:सृज्यमानप्रपञ्च वैचित्र्य-हेतुप्राणिकर्म सहकृतो परिमिता निरूपित शक्ति विशेषविशिष्ट मायासहित: सन्नामरूपात्मक निखिलप्रपञ्चं प्रथमं बुद्धावाकलय्येदं करिष्यामीति संकल्पयति।

— वे0प0,पृ0 334

ईश्वर इस सृष्टि का निर्माता है यह तो और भी अनेक उदाहरणों तथा प्रमाणों से सिद्ध होता है। इसके साथ ही साथ जब यह प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है कि वह ईश्वर इस संसार की उत्पत्ति में उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण? तब इसके समाधान में भी आचार्य शंकर अपने तर्क देते हैं और निरूपित करते हैं कि वह ईश्वर इस सृष्टि के निर्माण में उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है।

आचार्य इस सम्बंध में यह तर्क देते हैं कि जैसे घट, रूचक आदि के उपादान कारण मिट्टी और स्वर्णादि होते हैं तथा कुम्भकारादि इसके निमित्त होते हैं तद्वत् परमात्मामें उभय कारणत्व की सिद्धि होने से ही प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का अबाध परिलक्षित होता है। प्रतिज्ञा यह है कि जिसके सुनने से सब श्रुत होता है और जिसके ज्ञात होने से सब ज्ञात होता है तथा दृष्टान्त यह है कि जैसे भूमि में सभी औषधियाँ होती है, उसी तरह से ब्रह्म में उभय विधि कारणता को सिद्धि किये जाने पर ये दोनों सिद्ध होगें। इसी तरह से जगत् उत्पन्न होने के पूर्व एक परमेश्वर था ऐसा न स्वीकार किये जाने पर प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का परस्पर विरोध होगा क्योंकि परमात्मा स्वरूप उपादान से अन्य अधिष्ठाता को स्वीकार करने पर फिर भी एक के विज्ञान से सबके विज्ञान का असम्भव होने से प्रतिज्ञा और दृष्टान्त का वाध्य होगा।[1] आचार्य सदानन्द योगी ने इसी की प्रस्तुति इस प्रकार से की है कि ब्रह्म (परमेश्वर) उपादान और निमित्तकारण दोनों है।[2]

---

1. ब्र० सू० शां० भाष्य, पृ० 354-355
2. यथा लता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति । वे०सा०, पृ० 89

जीव -

श्री मद्भगवद्गीता में पुरूष और जीव की जो पृष्ठभूमि दी गई है उसके अनुरूप भगवान श्रीकृष्ण ने, जो स्वयम् ब्रह्म स्वरूप हैं, कहा है कि इस देह में यह सनातन जीवात्मा मेरा ही अंश है और वही इस प्रकृति में स्थित मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है। इसी भाँति इस लोक में दो प्रकार के पुरूषों के अस्तित्व का भी कथन किया गया है जिन्हें "क्षर" तथा "अक्षर " का नाम दिया गया है। तथा इनमें से सम्पूर्ण प्राणियों को "क्षर" तथा कूटस्थ "अक्षर " को कहा गया है।[1]

इसी प्रकार से मुण्डकोपनिषद् में यह कहा गया है कि जो सदा साथ-साथ रहने वाले एक ही शरीर रूप वृक्ष के आश्रित हैं उनमेंसे एक अपने कर्म रूप सुख-दु:खात्मक फल का आस्वाद लेता है और दूसरा केवल निरपेक्ष भाव से देखता है।[2] और इसी प्रकार से मिलते जुलते भाव के कथन को कठोपनिषद् भी इस रूप

---

1. ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन: ।
मन: षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।।
x x x x
द्वाविमौ पुरूषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।
वही, पृ0 241, 246

2. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानंवृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वन्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।
ई0द्वा030, पृ0 64

में व्यक्त करती है कि ब्रह्मज्ञ लोग कहते हैं कि शरीर में बुद्धिरूपी गुहा के भीतर उत्कृष्ट ब्रह्मस्थान हृदयाकाश में प्रविष्ट अपने कर्मफल को भोगने वाले छाया और घाम के समान परस्पर विलक्षण दो हैं। वे जीव और ईश्वर हैं।[1]

इस मूल कथन पर आचार्य शंकर अपने भाष्य में यह प्रतिपादन करते हैं कि अवश्यम्भावी होने के कारण सत्कर्म का पान करने वाले दो आत्मा हैं। उनमें से एक केवल कर्म-भोग का पान करता है और दूसरा नहीं। वे दोनों संसारी और असंसारी होने के कारण छाया तथा घाम के समान परस्पर विलक्षण हैं।[2]

एक अन्य स्थान पर आचार्य शंकर यह निरूपण करते हैं कि वह आत्मा अविद्या से जुड़कर अविद्या के कार्यों-देह, इन्द्रिय आदिकों में बन्ध कर भोक्ता के भाव से बंधता है। किन्तु व्यष्टि और समष्टि रूप ईश्वर परस्पर संयुक्त है। इसमें से व्यष्टिभूत ईश्वर देह-इन्द्रियात्मकों से बंधकर अनीश्वरात्मक होकर जीव रूप में कहा जाता है।[3]

- -

1. ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
   छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।

   क० उ० , पृ० 7।

2. ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ, एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः....................तौ च छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वा-संसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति। वही, पृ० 72-73 पर शांकरभाष्य

3. स आत्माविद्यातत्कार्यभूतदेहेन्द्रियादिभिर्बध्यते भोक्तृभाववत्।
   एतदुक्तं भवति-परस्परसंयुक्तो व्यष्टिसमष्टिरूप ईश्वरः।
   तद्व्यष्टिभूतदेहेन्द्रियात्मकोऽनीशो जीवः।।

   श्वे०, पृ० 64 पर शांकरभाष्य

वेदान्त परिभाषा में आत्मा में अविद्या के संपर्क से ही जीव के कथन का समर्थन किया गया है और कहा गया है कि जीव तथा ईश्वर में भेद अविद्या जनित उपाधि से ही होता है। उपाधि से उत्पन्न होने वाले दोष प्रतिबिम्बभूत जीव में रहते हैं।[1] और कर्ता, भोक्ता, सुख, दुख, लोक, परलोक के आवागमन के व्यवहार के विज्ञानमय चैतन्य ही जीव कहा जाता है।[2]

और आचार्य शंकर विस्तार से ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में यह स्पष्ट करते हैं कि जीव ब्रह्म से उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि जिन-जिन श्रुतियों का उदाहरण दिया जाता है, वे सब यह सिद्ध करती हैं कि जीवात्मा में नित्यत्व का बोध होता है। इस कारण आचार्य सिद्धान्त देते हैं कि अविकृत ब्रह्म के जीव-भाव के स्वीकार से प्रतिज्ञा का बाध नहीं होता। जीव और ब्रह्म के लक्षणभेद उपाधिनिमित्तक ही हैं।[3]

---

1. विम्बप्रतिबिम्बकल्पनोपाधिश्चैकजीववादे अविद्या, अनेकजीववादे तु अन्तः-करणान्येव।......................उपाधिकृतदोषाश्च प्रतिबिम्बे जीव एव..........। वही, पृ0 356 - 356
2. अयं कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेनेहलोकपरलोकगामी व्यावहारिको जीव इत्युच्यते। वे0 सा0 , पृ0 95
3. लक्षणभेदोऽप्यनयोरुपाधिनिमित्त एव। ब्र0 सू0 शां0 भाष्य, पृ0 567

आत्मा का सृष्टिकारणत्व

प्रश्नोपनिषद् में प्रारम्भ में ही यह प्रक्रम है कि भरद्वाज नन्दन सुकेशा, शिबिकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्र में उत्पन्न हुआ कौसल्य, विदर्भदेशीय भार्गव और कवन्धी- अपर ब्रह्म की उपासना करने वाले भगवान् पिप्पलाद के पास गए और प्रश्न किया हे भगवन् ! यह ब्राह्मणादि सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती है।[1] और इसके उत्तर में सम्पूर्ण उपनिषद् परम्परा इस पर विचार करने का प्रयत्न करती है। सर्वप्रथम इसी उपनिषद् में एक स्थान पर प्रश्न- प्रति प्रश्न के क्रम में आचार्य शंकर यह निरूपित करते हैं कि जिस प्रकार आत्मा में भोक्तत्वादि सिद्ध किया जाता है इसी तरह आत्मा में आत्मकर्तृत्व भी निरूपित हो सकता है।[2]

बृहदारण्यक उपनिषद् सृष्टि के आदि क्रम का निरूपण करती हुई कहती है कि उत्पत्ति से पूर्व यह पुरुष शिर, पाद आदि वाला विराट् आत्मा ही था। जब उसने आनन्द का अनुभव नहीं किया तो उसने दूसरे अर्थात् स्त्री की कामना की। और इस प्रकार वे पति - पत्नी बने । इसीलिए शरीर द्विदल अन्न के समान है अर्थात् अकेला पुरुष अर्ध द्विदल के समान है।[3]

---

1. प्र० उ० , पृ० 13
2. तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येण ईक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनम् ; सत्वादिगुण- साम्ये प्रधाने प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्ते- श्च। वही, पृ० 108
3. ई० द्वा० उ० , पृ० 275- 277

कठोपनिषद् कहती है कि जिस प्रकार से सम्पूर्ण भुवन में प्रविष्ट हुआ एक अग्नि प्रत्येक रूप के अनुरूप हो जाता है उसी प्रकार से सभी भूतों में एक ही अन्तरात्मा उनके रूप के अनुरूप हो रहा है और उससे बाहर भी है।[1]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में इसका विस्तार से विवेचन किया गया है वहाँ पर कहीं ईश्वर को सृष्टि के कारण के रूप ईश्वर पद से व्यवहृत किया गया है तो कहीं पर आत्मपद का व्यवहार किया गया है। एक स्थान पर जब यह कहा गया कि एक ही देव है जो सर्व व्यापी अन्तरात्मा है तो आचार्य शंकर ने उसकी व्याख्या में यह निरूपण किया कि वह सर्वव्यापी सर्वभूतों का अन्तरात्मा है। कर्माध्यक्ष होने से सभी प्राणियों के कर्मों जो चित्र- विचित्र हैं, का अधिष्ठाता है।[2]एक अन्य स्थान पर आत्मा को सर्वयोनि: कहकर उसके सृष्टिकरणत्व को स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया गया है।[3] इससे यह संकेत प्राप्त होता है कि आत्मापद का व्यवहार और उससे सृष्टि की कारणता का कथन स्थान- स्थान पर किया गया है।

1• अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।। वही, पृ0 122
एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्मातिसूक्ष्मत्वाद् दार्वादिष्विव सर्वदेवं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेन अविकृतेन स्वरूपेणाकाशवत्। वही, पृ0 123 पर शांकरभाष्य

2• सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा स्वरूपभूत इत्यर्थ:। कर्माध्यक्ष: सर्वप्राणिकृतविचित्रकर्माधिष्ठाता। वही, पृ0 204 पर शांकरभाष्य

3• आत्मा चासौ योनिश्चेत्यात्मयोनि:।......... . .. . ।
सर्वस्यात्मा सर्वस्य च योनि: सर्वज्ञश्चैतन्यज्योतिरित्यर्थ:।
वही, पृ0 210 पर शांकरभाष्य

आत्मा और उसका स्वरूप

आत्मा की स्वरूप सिद्धि के लिए आचार्य शंकर के उस कथन से प्रारम्भ किया जा सकता है जिसमें यह कहा गया है कि आत्मा की सिद्धि के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है अपितु वह तो स्वयं प्रमाण द्वारा सिद्ध है। यदि आत्म-सत्ता का ज्ञान सभी को नहीं होता तो "मैं नहीं हूँ" ऐसा ज्ञान सभी को होता। किन्तु जिस आत्मा को सब लोग "मैं" इस प्रकार देहादि के रूप में अविवेक पूर्ण रूप से जानते हैं वही विविक्त साक्षी स्वरूप आत्मा है। यही आत्मा ब्रह्म है।[1]

आचार्य यहाँ पर आत्मा की सिद्धि बिना किसी प्रमाण के करते हैं और आत्मा के लिए ब्रह्म शब्द का भी प्रयोग करते हैं। इसी दृष्टि से यदि हम उन-उन स्थलों को देखें जहाँ-जहाँ आत्मा शब्द का प्रयोग किया गया है वहाँ-वहाँ इस आत्मा के स्वरूप के लिए इसकी नित्यता, शुद्धता, बोधित्व, मुक्ततादि का कथन किया गया है। और यह कहा गया है कि यह वेदान्त विद्वानों की अनुभूति है कि यह चैतन्य रूप आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभावी है।[2]

---

1. सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्वप्रसिद्धिः। सर्वो ह्यात्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति। यदि हि नात्मास्तित्वप्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लोको नाहमस्मीति प्रतीयात्। आत्मा च ब्रह्म। ब्र० सू० शांकर भाष्य, पृ० 11

2. अतस्तत्तद्भासक नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यस्वभाव प्रत्यक् चैतन्यमेवात्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः। वे० सा०, पृ० 119

कठोपनिषद् जब कहती है कि यह न जन्म लेता है न मरण होता है, न कहीं से इसका उद्भव होता है। यह अज, नित्य, शाश्वत है। तब आचार्य शंकर अपने भाष्य में विस्तार से यह लिखते हैं कि आत्मा न किसी से न कहीं से उत्पन्न होता है और न स्वयम् से ही अर्थान्तर रूप से हुआ है। यह आत्मा अज, नित्य और शाश्वत है क्योंकि जो अशाश्वत होता है वही क्षीण होता है किन्तु यह शाश्वत और पुराण भी है।[1]

इसी दृष्टि से यह कहा गया है कि जो कोई इस आत्मा को वर्तमान् भूत, भविष्यत् कालिक जानकर यह भी जानता है कि यह त्रिकालका शासक है तो वह कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता और अभय की स्थिति में रहता है। जब तक वह आत्मा को अनित्य मानता है तब तक वह आत्मा की रक्षा करना चाहता है किन्तु जैसे ही वह उसे नित्य- अद्वैत जान लेता है वैसे ही यह भी जान लेता है कि कौन किसकी रक्षा करने वाला है।[2]

---

1. स्वस्माच्चात्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतो यमात्माजो नित्यः शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते, अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुरापि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिः। तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे। तत्स्थोऽप्याकाशवदेव। क० शां० भाष्य, पृ० 61

2. यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेत्। एतद्वैतदिति पूर्ववत्। वही, पृ० 100

एक स्थान पर आचार्य ईश्वर और आत्मा पद का प्रयोग साथ- साथ करते हैं और यह निरूपित करते हैं कि सर्वगत परमेश्वर एक है क्योंकि वह सर्वभूत-मात्र का अन्तरात्मा है। वह अचिंत्य शक्ति- सम्पन्न, नित्य एक रस विशुद्ध विज्ञान स्वरूप अपने को नाम- रूपादि अपाधिभेद से स्वतता को बहुत प्रकार से कर लेता है। उस आत्मस्थ, शरीरस्थ, हृदयाकाश बुद्धि में चैतन्यरूप से अभिव्यक्त आत्मा का जो विवेकी पुरूष अनुभव कर लेते हैं उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है।

इस उदाहरण में आचार्य ने और स्पष्ट किया है कि जिस प्रकाश दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख का आधार दर्पण नहीं है उसी प्रकाश से आत्मा का आधार शरीर भी नहीं है। धीर और विवेकी पुरूष उस ईश्वर- आत्मा को देखते हैं; आचार्य और शास्त्र के उपदेश के अनन्तर नित्य सुख का अनुभव करते हैं।[1]

छादोग्योपनिषद् में आचार्य यह कहते हैं कि हृदय कमल के अन्दर स्थित यवादि से भी सूक्षम है, श्यामाक तण्डुल से भी सूक्ष्म है और यह हृदयकमल में अवस्थित आत्मा पृथिवी से भी बड़ी है। इस प्रकार वह इन दोनों की अपेक्षा

- -

1. सर्वभूतान्तरात्मा। यत एकमेव सदैकरसमात्मानं विशुद्ध विज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधानेकप्रकारं य: करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्य-शक्तित्वात्। तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्ये-तत् ।. . .. . । तमेतमीश्वरमात्मानं . .. . परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति ।

क0 शाँ0 भाष्य, पृ0 126-127

अतिशय है।[1]

इसी तरह से जब उपनिषद् मूल रूप से आत्मा को सर्वकर्मा, सर्वगन्धा, सर्वकामा, सर्वरस:, सर्वव्यापक कहती है तो आचार्य शंकर इसी आत्मा के लिए ईश्वर शब्द का प्रयोग कर देते हैं और यह कहते हैं कि पूर्वोक्त गुणों से लक्षित होने वाले ईश्वर का ही ध्यान करना चाहिए।[2]

एक अन्य स्थान पर भी आचार्य शंकर ने आत्मा के जिस रूप का निरूपण किया है, उसके अनुसार आत्मा, आप्नुवन के कारण आत्मा है। सर्वशक्तिवान् तथा संसार के सभी धर्मों से विवर्जित है। यह आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभावी और अजर तथा अमर है। उत्पत्ति के पूर्व यह सब कुछ जगत् अव्याकृत था बाद में नाम रूपात्मक भेद से व्याकृत हुआ।[3]

- -

1. एष यथोक्त गुणो मे ममात्मान्तर्हृदये हृदयपुण्डरीकस्यान्तर्मध्येऽणीयानणुतरो...... .. . . . एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या इत्यादिना। छा० उ० , शांकर भा०, पृ० 311

2. यथोक्त गुणलक्षण ईश्वरो ध्येयो न तु तद्गुणविशिष्ट एव।
वही, पृ० 312 पर शांकर भाष्य

3. आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा पर: सर्वज्ञ: सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै।.इ. . ....
प्रागुत्पत्ते: अव्याकृत नामरूपभेदमात्मभूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं जगदिदानीं व्याकृतनामरूपभेदत्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैक शब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेष:। ऐ० उ० शां० भाष्य , पृ० 17

आत्मा का बन्ध और मोक्ष

वेद शास्त्र की परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को स्वीकार किया गया है। इसमें भी मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है- ऐसा प्रसिद्ध है।[1] अपने इस मूल प्रतिपादन के समर्थन में आचार्य ने छान्दोग्योपनिषद् के दो उदाहरण दिए हैं जिनसे एक उदाहरण में यह कहा गया है कि "वह आत्मज्ञ पुनः इस संसार में जन्म नहीं लेता"[2] इस श्रुति से मोक्ष की नित्यता ज्ञात होती है। इसी तरह से मोक्ष के अतिरिक्त (धर्म, अर्थ, काम) तीन पुरुषार्थों की अनित्यता प्रत्यक्ष से तथा श्रुति से ज्ञात होती है। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि जैसे इस लोक में कृष्यादि कर्म से सम्पादन किया हुआ धान्यादि लोक फल क्षीण होता है उसी प्रकार से परलोक में पुण्यरूप अदृष्ट से सम्पादन किया हुआ स्वर्गलोकादि भी क्षय को प्राप्त होता है।[3] इससे धर्म- फल की अनित्यता प्राप्त होती है।

---

1. इह खलु धर्मार्थकाममोक्षाख्येषु चतुर्विधपुरुषार्थेषु मोक्ष एव परमपुरुषार्थः ।

वे० प० , पृ० 6

2. तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय. . . . .

ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।

छा० उ० , पृ० 943

3. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते ।

वही, पृ० 819

मुक्ति को ज्ञान से साध्य कहा गया है। क्योंकि उसी को जानकर जीव मृत्यु से पार जाता है। इस कथन को भी उपनिषद् के इस वाक्य से समर्थित किया गया है जिसमें यह कहा गया कि उसे जानकर मनुष्य मृत्यु से पार जाता है और कोई दूसरा मार्ग इससे भिन्न नहीं है।[1]

आत्मा कैसे बन्धन में आती है इसके सम्बन्ध में वेदान्तसार आवरण और विक्षेप नामक अविद्या की दो शक्तियाँ स्वीकार करता है और यह प्रतिपादित करता है कि जिस प्रकार लघु मेघ का खण्ड अनेक योजन तक विस्तृत सूर्य को दर्शक के नयनों के आगे से ढककर उसकी दृष्टि को परिच्छिन्न कर देता है उसी प्रकार सीमित अज्ञान भी असीमित, अजन्मा, असांसारिक आत्मा को आवृत कर देता है। यही शक्ति आवरण शक्ति कही जाती है।[2]

इस क्रम में आत्मा किस प्रकार बद्ध अनुभव करता है इसके लिए कहा गया है कि जिस प्रकार मेघ से आच्छन्न दृष्टि वाला मूर्ख व्यक्ति मेघाच्छादित सूर्य को प्रकाश रहित समझता है उसी भाँति जो मंद साधारण दृष्टिवान् लोगों को

1• वे० प०, पृ० 384

x x x x

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाम। श्व०, पृ० 125

2• आवरणशक्ति स्तावदल्पोऽपि मेघोऽनेकयोजनायतमादित्यमण्डलमवलोकयितृनयनपथपिधायकतया यथाच्छादयतीव तथाज्ञानं परिच्छिन्नामप्यात्मानमपरिच्छिन्नमसंसारिणमवलोकयितृबुद्धिपिधायकतयाच्छादयतीव तादृशं सामर्थ्यम्।

वे० सा०, पृ० 87

जन्म मरणादि बन्धनों से बद्ध प्रतीत होता है ऐसा वह नित्य एवम् उपलब्धि स्वरूप अहम् या आत्मा है।[1] इसी आवरणशक्ति से आवृत आत्मा में कर्तृत्व, भोक्तृत्व, सुख, दु:ख, मोक्षादि का अवभास होने लगता है। जैसे स्व अज्ञान से आवृत रज्जु में सर्पत्व का भाव प्रतिष्ठित होता है।[2] यही आत्मा का बन्धन है।

आचार्य सदानन्द योगीन्द्र विक्षेप शक्ति के सन्दर्भ में यह कहते हैं कि जो रस्सी विषयक अज्ञानाच्छादिक रस्सी में स्वशक्ति से सर्पादि की उद्भावना के समान अज्ञानावृत आत्मा में ही आकाशादि प्रपञ्च की उद्भावना कराता है वह ऐसी शक्ति है क्योंकि विक्षेप शक्ति ही लिंग से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त संसार की रचना करती है।[3]

और इस रूप में इन उभय शक्तियों से जो जीव तथा आत्मा का पार्थक्यभाव है उसके मध्य में अज्ञाननिवृत्तिपूर्वक आत्मा के स्वरूपानन्द की प्राप्ति मुक्ति की अवस्था है।

- -

1. घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा मन्यते निष्प्रभं चातिमूढ:।
   तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टे: स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा।।
   वे०सा०, पृ० 87

2. वही, पृ०87

3. विक्षेपशक्तिस्तु तथा रज्जवज्ञानं स्वावृतरज्जौ स्वशक्त्या सर्पादिकमुद्भावत्येवमज्ञानमपि स्वावृतात्मनि विक्षेपशक्त्याकाशादिप्रपञ्चादिमुद्भावयति तादृशं तदुक्तम् विक्षेपशक्ति लिंगादिब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेदिति। वही, पृ०88

3. तदैवाप्रमेयगताज्ञाननिवृत्ति: स्वस्वरूपानन्दावाप्तिश्च "तरति शोकमात्मवित्" इत्यादि श्रुते: "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" इत्यादि श्रुतेश्च। वही, पृ०69 ;
   क०उ०शांकरभाष्य, पृ० 125

अविद्या के कारण आत्मा बन्धन युक्त है और यह बन्धन की ग्रंथि तभी छूटती है जब पुरूष आचार्य और शास्त्र से पुरूष की अव्यक्तावस्था को जान लेता है और यह जानकर वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है।[1]

एक अन्य स्थान पर आचार्य यह लिखते हैं कि अविद्याजनित प्रतीति यह शरीर मैं हूं, यह धन मेरा है, मैं सुखी हूं मैं दु:खी हूं इत्यादि प्रकार के अनुभव के अविद्या प्रत्यय हैं। उसके विपरीत ब्रह्मात्वभाव के अनुभव की उत्पत्ति से मैं "असंसारी ब्रह्म हूं " ऐसे तत्वज्ञान द्वारा अविद्याजनित ग्रन्थियों के विनष्ट हो जाने पर ,न्निमित्तक कामनायें भी मूलत: नष्ट हो जाती हैं तब वह मर्त्य अमर हो जाता है।[2]

ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में आचार्य शंकर ने मुक्तावस्था में जीव और ब्रह्म, जिसके लिए आत्मपद का भी व्यवहार होता है, की अभिन्नता को कहा है और यह कहा है कि वह उत्तम पुरूष है इत्यादि ब्रह्मरूपता की उक्ति से वह ब्रह्मस्वरूप से अभिन्न है।[3] इसी तरह से "अवभागेन दृष्टत्वात्"सूत्र के भाष्य में भी आचार्य ने श्रुति प्रमाण देकर मुक्तावस्था का अभेद स्वरूपावस्थिति के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन किया है।[4]

---

1. क0उ0शांकरभाष्य, पृ0 142-143
2. यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्यबुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद् दृढबन्धनरूपा अविद्या प्रत्यया इत्यर्थ:।.........
.........ब्रह्मवैवाहमस्मि असंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषुतन्निमित्ता: कामा मूलतो विनश्यन्ति। क0उ0, शांकरभाष्य, पृ0 152-153
3. ब्रह्मत्वोक्तेरभिन्नं तद्भेदोक्तिरुपचारत:। वही ,पृ0 1058
4. वही, पृ0 1059; 723-724

x x x x

नित्य:सर्वज्ञ: सर्वगतो नित्यतृप्तो नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावो विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। - वही, पृ0 42

प्रमाण

सामान्यरूप से यह अवधारणा प्रचलित है कि " प्रमा "की सिद्धि के लिए प्रमाणों की आवश्यकता होती है और प्रत्येक दर्शन ने अपने-अपने तर्क-व्यवहार के आधार पर प्रमाणों को स्वीकृत किया है। जैसे कि चार्वाक् केवल प्रत्यक्ष, बौद्ध और वैशेषिक प्रत्यक्ष तथा अनुमान, सांख्य और योग प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द नैयायिक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द, प्रभाकर मीमांसक प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द, उपमान, अर्थापत्ति, भाट्टमतमीमांसक तथा वेदान्तदर्शन के आचार्य प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति एवम् अभाव को तथा पौराणिक इन छह में संभव और ऐतिह्य जोड़कर आठ प्रमाण स्वीकार करते हैं।[1]

आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्त परिभाषा में प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान, आगम, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि के भेद से छह प्रमाणों का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है।[2] इन प्रमाणों की संख्या का निर्देश करने के साथ- साथ यह भी कहा गया है कि ये प्रमाण ब्रह्मज्ञान में प्रमाण हैं- इसलिए इनका कथन किया जा रहा है।[3]

---

1. प्रत्यक्षमात्रं चार्वाकाः बौद्धा वैशेषिका द्वयम्।
   सांख्या योगास्त्रयं चैव तार्किकाश्च चतुष्टयम्।।
   पञ्च प्राभाकरा भट्टास्तथा वेदान्तिनश्च षट् ।
   पौराणिकास्तथा चाष्टौ प्रमाणानि ब्रुवन्ति वै।।
   वे० सा०, पृ० 38 से उद्धृत
2. तानि च प्रमाणानि षट्, प्रत्यक्षानुमानोपमानागमार्थापत्त्यनुपलब्धिभेदात्।
   वही, 20
3. स च ब्रह्मज्ञानात्-इति ब्रह्म तज्ज्ञानं तत्प्रमाणं च सप्रपञ्चं निरूप्यते ।
   वही, पृ० 6

किन्तु इसके विपरीत ब्रह्मसूत्र के अपने भाष्य में आचार्य शंकर इन प्रमाणों की ब्रह्मसिद्धि में उपादेयता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनका यह तर्क है कि देह और इन्द्रियादि अध्यास जन्य "अहं" और"मम" इस प्रकार का व्यवहार होता है। क्योंकि देहादि में अहं ममादि को अभिमान रहित को प्रमाता रूप की असिद्धि होने पर प्रमाण की भी असिद्धि से प्रमाणमूलक व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता ।[1]

इस सम्बन्ध में आचार्य का यह निरूपण है कि कोई यदि यह कहता है कि प्रमाणादि का व्यवहार विद्वानों के लिए है तो यह कहना इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि अविद्याविषयक व्यवहार विद्वान् और अविद्वान् को समानरूप से होते हैं।[2]

प्रमाणों के सम्बन्ध में इस ऊहापोहात्मक दृष्टि के कारण ही डा० पालडायसन ने यह मत व्यक्त किया है कि ज्ञान के दार्शनिक साधन के स्थान पर एक धार्मिक साधन को रखकर वेदान्त इस कठिनाई को पार करता है।[3]

1• देहेन्द्रियादिष्वहं ममाभिमानरहितस्य प्रमातृत्वाऽनुपपत्तौ प्रमाणप्रवृत्यनुपपत्तेः । • • • • • ••• न च प्रमातृत्वमन्तरेण प्रमाणप्रवृत्तिरस्ति।
वही, शांकरभाष्य, पृ० 15

2• यथा दण्डोद्यतकरं पुरुषमभिमुखमुपलभ्य मां हन्तुमयमिच्छतीति पलायितुमारभन्ते, हरिततृणपूर्णपाणिमुपलभ्य तं प्रत्यभिमुखी भवन्ति। एवं पुरुषा अपि व्युत्पन्नचित्ताः क्रूरदृष्टीनाक्रोशतः खड्गोद्यतकरान् बलवत् उपलभ्य ततो निवर्तन्ते, तद्विपरीतान् प्रति प्रवर्तन्ते, अतः समानः पश्वादिभिः पुरुषां प्रमाणप्रमेयव्यवहारः। वही, पृ० 16

3• वे० द० , पृ० 70

प्रमाणों की गतार्थता

वेदान्त परिभाषाकार "प्रमाया: करणं प्रत्यक्षम्" इस प्रकार का जब प्रत्यक्ष का लक्षण करते हैं तब वे यह भी निरूपित करते हैं कि प्रमा चैतन्यमात्र ही है। इसके प्रमाण में वे "अपरोक्ष ब्रह्म" के निरूपण वाली श्रुति भी प्रस्तुत करते हैं।[1]

इस मूल निरूपण के पश्चात् जब यह शंका उपस्थित की जाती है कि चैतन्य तो अनादि और अकार्य है तब उस चैतन्य ब्रह्म के ज्ञान में इन्द्रियादिकों की कारणता कैसे निरूपित की जा सकेगी। तो इसके उत्तर में समाधान देते हुए आचार्य कहते हैं कि चैतन्य अनादि होने पर भी उसे अभिव्यक्त करने वाली अन्त:करण वृत्ति, इन्द्रियसंनिकर्षादि निमित्त से ही पैदा होती है। इसी से वृत्तिविशिष्ट चैतन्य "आदिमत्" है- ऐसा कहा जाता है। वृत्ति को ज्ञान शब्द से क्यों कहा जाता है इस प्रकार के प्रश्न का भी समाधान वहाँ दिया गया है और कहा गया है कि वृत्ति ज्ञान को मर्यादित करती है इसलिए उसमें ज्ञानत्व का उपचार होता है।[2]

---

1. तत्र प्रत्यक्षप्रमाया: करणं प्रत्यक्षप्रमाणम्। प्रत्यक्षप्रमा चात्र चैतन्यमेव। "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इति श्रुते: ।अपरोक्षादित्यस्यापरोक्षमित्यर्थ:।
वे0 प0 पृ0 20

2. चैतन्यस्यानादित्वेऽपि तदभिव्यञ्जकान्त:करणवृत्ति रिन्द्रियसन्निकर्षादिना जायते, इति वृत्तिविशिष्टं चैतन्यमादिमदित्युच्यते। ज्ञानावच्छेदकत्वाच्च वृत्तौ ज्ञानत्वोपचार:। तदुक्तम्अन्त:करणवृत्तौ ज्ञानत्वोपचारात् । वही, पृ0 25

इसी प्रकार आचार्य जब अनुमान प्रमाण का लक्षण करते हैं तो वे अनुमिति के करण को अनुमान कहते हैं। और इस अनुमिति- प्रमा को व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्ति ज्ञानजन्य कहा गया है।[1]

आचार्य कहते हैं कि इस रूप में जब अनुमान प्रमाण निरूपित हो जाता है तो उसी के द्वारा ब्रह्मभिन्न समस्त प्रपञ्च की मिथ्यात्वसिद्धि होती है। जैसे कि ब्रह्मभिन्न सर्व मिथ्या है क्योंकि यह सब ब्रह्मभिन्न है। जो ब्रह्मभिन्न रहता है, वह मिथ्या होता है। जैसे शुक्तिरूप्य ।[2]

इसी तरह से आचार्य जब "तत्र सादृश्यप्रमाकरणमुपमानम्" माध्यम से उपमान का लक्षण करते हैं तब वे सादृश्य प्रमा के करण को उपमान कहते हैं।[3]और इस की गतार्थता इसलिए है क्योंकि यागादि सम्बन्धी प्रकृति भूत पौर्णमासादि के समान विकृतिभूत सौर्ययागादि का अनुष्ठान करना चाहिए- इस ज्ञान की अपेक्षा होती है। यह ज्ञान सादृश्यमूलक होने से उपमान प्रमाण के अधीन है।[4]इसी प्रकार से अन्य प्रमाण-विवेचन भी वहाँ पर प्राप्त है।

---

1. अनुमितिकरणमनुमानम्। अनुमितिश्च व्याप्तिज्ञानत्वेन व्याप्तिज्ञानजन्या।
   वे0 प0, पृ0 148
2. एवमनुमाने निरूपिते तस्माद् ब्रह्मभिन्न निखिलप्रपञ्चस्य मिथ्यात्व सिद्धिः। तथा हि- ब्रह्मभिन्नं सर्वमिथ्या, ब्रह्मभिन्न त्वात्, यदेवं तदेवं यथा शुक्तिरूप्यम् । वही, पृ0 168
3. वही, पृ0 180
4. वही, पृ0 182

ब्रह्मस्वरूप

ब्रह्मसूत्र का प्रथम सूत्र ही इस बात का प्रमाण है कि वेदान्तदर्शन का प्रमुख लक्ष्य ब्रह्म की जिज्ञासा करना है। जिस ब्रह्म की जिज्ञासा करने पर शम, दम, तितिक्षादि से मनुष्य उसका साक्षात्कार करने की ओर प्रवृत्त होता है तथा यज्ञयागादि से प्राप्त पुण्यफलों की अनित्यता को जान लेता है।[1]

उपनिषदें इसी विचार का आधार आचार्य शंकर को देती हैं और लगभग इसी प्रकार से वे भी अपना ब्रह्म स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। केनोपनिषद् में जब ब्रह्म के स्वरूप का उपन्यास किया गया है तो यह कहा गया है कि वह चैतन्य-सत्ता जो वाणी से प्रकाशित नहीं होती, मन से जिसका मनन नहीं किया जा सकता, नेत्र से जिसे कोई देख नहीं सकता, श्रोत्र से जिसे कोई सुन नहीं सकता और घ्राण जिसे अपनी घ्राणात्मक शक्ति से विषय नहीं करता उसे ही तू ब्रह्म जान। इसके विपरीत जो देश-काल परिच्छिन्न वस्तु की उपासना करते हैं, वे ब्रह्म स्वरूप को नहीं जानते ।[2]

- -

1. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। ब्र0 सू0, पृ0 19

x x x x

कि चतमात्मानं ज्ञात्वैव पापात्मकेन बन्धनप्रदेन कर्मणा न लिप्यते। तस्मादेवं विवेकादिवान् पुरुषः शमादियुक्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा निजबुद्धावेवात्मानं सर्वात्मस्वरूपमेव पश्यति, अतश्चेत सः शुद्धिं विधाय शमादिकं ... सम्पाद्य कर्मफलानित्यत्वं ज्ञानफलस्य नित्यत्वं च निश्चित्य अथ तदनन्तरं ब्रह्मजिज्ञासा कर्तव्या। तया विचारं सम्पाद्य ज्ञानं लब्ध्वा ब्रह्मात्मना स्थातव्यमिति । शांकरभा0 वही , पृ0 20

2. ई0 द्वा0 उ0 , पृ0 6-7

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर अक्षर के रूप में ब्रह्म का आख्यान करते हुए मुण्डकोपनिषद् कहती है कि वह ब्रह्म दिव्य, आकार रहित, पुरुष, भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान, अजन्मा, प्राणरहित, मनोरहित, परिशुद्ध और श्रेष्ठ है। यह पुरुष, विश्व, कर्म, तप सभी परब्रह्मरूप ही है। जो इसे सभी की हृदयरूप गुहा में अवस्थित जानता है वह अविद्या-ग्रन्थि का छेदन कर डालता है।[1]

एक अन्य उपनिषद् छान्दोग्योपनिषद् यह प्रतिपादन करती है कि आकाश रूप से प्रसिद्ध आत्मा नाम और रूप का निर्वाह करने वाला है। यह यश संज्ञक भी है। इस पर आचार्य शंकर अपना अभिमत प्रकट करते हुए कहते हैं कि श्रुतियों में आत्मा आकाश" के नाम से प्रसिद्ध है। यह आत्मा ब्रह्म नाम और रूप के अन्तर में भी है उससे असंपृक्त भी है। इसी प्रकार वह ब्रह्मतत्व चिन्मात्र की अनुभूति होने से चिद्रूप भी है।[2]

- -

1. दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः।।
x x x x
पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।
ई0 द्वा0 उ0, पृ0 59, 61

2. आकाशो वै नाम श्रुतिषु प्रसिद्ध आत्मा; आकाश इवाशरीरत्वात्सूक्ष्मत्वाच्च।.. ....। ते नामरूपे यदन्तरा यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा वर्तेते तयोर्वा नाम-रूपयोरन्तरा मध्यें यन्नामरूपाभ्यारूपाभ्यामस्पृष्टं यदित्येतत्तद् ब्रह्म नाम-रूपविलक्षणं नामरूपाभ्यामस्पृष्टं तथापि तयोर्निर्वोढृवंलक्षणं ब्रह्मेत्यर्थः।
छा0 उ0, शांकरभाष्य, पृ0 939, 940

एक अन्य स्थान पर आचार्य शंकर ने आत्मा किं वा ब्रह्म के स्वरूप सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है और यह निरूपित किया है कि आत्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। विश्व की किसी भी शक्ति से अबाधित तीनों काल में एक रूप से विद्यमान शक्ति को सत् कहते हैं। "चित" शक्ति अन्य साधनों की अपेक्षा के बिना स्वयम् प्रकाशमान होते हुए अपने में ही सभी पदार्थों को आरोपित करने वाली तेजस्वी शक्ति है। आनन्दरूप उसे कहते हैं जो परमप्रेमास्पद है, नित्य है, निरतिशय प्रसन्नता का प्रतीक है। ब्रह्म नित्य है, विशिष्ट प्रज्ञाशाली है, आनन्द स्वरूप है, प्रसन्नता प्रदान करने में निरत है- ऐसा नित्य, बुद्ध, शुद्ध और मुक्त स्वभाव है।[1] इस रूप में ब्रह्म का निरूपण जिस प्रकार से किया गया है उससे यह प्रतिपादित है कि ब्रह्म नित्य शुद्ध, बुद्ध, आनन्दरूप और मुक्त स्वभावी है। यह सत्, चित्, तथा आनन्द का समन्वित स्वरूप है।

- -

1. इदानीमात्मनः सच्चिदानन्दस्वरूपत्वमुच्यते। सद्रूपत्वं नाम केनाप्यबाधमानत्वेन कालत्रयेऽप्येकरूपेण विद्यमानत्वमुच्यते। चिद्रूपत्वं नाम साधनान्तरनिरपेक्षतया स्वयं प्रकाशमानः सन् स्वस्मिन्नारोपितसर्वपदार्थावभासकवस्तुत्वं चिद्रूपत्वमित्युच्यते। आनन्दस्वरूपं नाम परमप्रेमास्पदत्वं नित्यनिरतिशयत्वमानन्दत्वमित्युच्यते। नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्म राति दातुः परायणमिति श्रुतेः। एवम् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमिति। आ० वि०, पृ० 47

एक अन्य उपनिषद् में ब्रह्म की त्रिविध स्थितियों का निरूपण करके आचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य सम्पूर्ण संसार पदार्थ तथा प्रेरक अन्तर्यामी कह कर ब्रह्म को त्रिविध रूप में होते हुए भी एक रूप में प्रतिपादित किया गया है। आचार्य कहते हैं कि भोक्ता आदि अशेष प्रपञ्च को ब्रह्म अथवा आत्मा जानना चाहिए।[1]

इसी प्रकार से कठोपनिषद् कहती है कि जो मुमुक्ष जलादि भूतों से पहले उत्पन्न हुआ है; सभी भूतों की बुद्धि रूप गुहा अवस्थित है, निश्चय ही वह ब्रह्म है। आचार्य इस मूल कथन में यह और जोड़ देते हैं कि वह ब्रह्म न केवल जल से पूर्व उत्पन्न हुआ है अपितु जल सहित सभी पंच महाभूतों से पहले उत्पन्न हुआ है।[2] और इस रूप में आचार्य सदानन्द योगीन्द्र के शब्दों में वह ब्रह्म अस्थूल, अचक्षुर, अप्रमाण, अमना, अकर्ता, चैतन्य, प्रकाशरूप नित्य है। यह अनुभव "मैं ब्रह्म हूँ"- ऐसा विद्वदनुभव से ज्ञात है।[3]

---

1. भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा,
   सर्वप्रप्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । श्वे0 , पृ0 77
   x x x x
   भोक्ता जीवो भोग्यमितरत्सर्वं प्रेरितान्तर्यामी परमेश्वरः । तदेतत् त्रिविधं प्रोक्तं ब्रह्मैवेति। भोक्त्राद्यशेषभेदप्रपञ्चविलापनेनैव निर्विशेष ब्रह्मात्मानं जानीयादित्यर्थः। वही, पृ0 77 पर शांकरभाष्य।

2. यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।
   x x x x
   अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पंचभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्या इत्यभिप्रायः।
   वही, पृ0 100 तथा शांकरभाष्य, 101

3. वे0 सा0 , पृ0 118

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सद्रूप ब्रह्म किस प्रकार सृष्टि-उत्पादन में सक्षम हो सकता है। इसके समाधान में जो कहा जाता है उसके अनुरूप वेदान्त की भाषा में; ब्रह्म अविद्या की शक्ति से अथवा अपनी मायात्मकता से सृष्टि का सृजन करता है। यह शक्ति आवरण और आक्षेप के रूपमें द्विविधरूपा है।

इसमें आवरण शक्ति का जो स्वरूप दिया गया है तदनुरूप से जो शक्ति ब्रह्म से लेकर उसके स्वरूप के यथार्थ को ढक लेती है अर्थात् आवरित कर लेती है- वह आवरण शक्ति है। और जो शक्ति ब्रह्म से लेकर स्थावर प्राणियों तक सम्पूर्ण नामरूपात्मक संसार को उत्पन्न करती है- वह विक्षेप शक्ति कही जाती है।[1] और इस रूप में ब्रह्म की मायात्मक शक्ति से सृजित यह सृष्टि उसकी माया रूपता के परिणाम से परिणमित है और इस सिद्धान्त से यह सन्देह नहीं किया जा सकता कि ब्रह्म के परिणाम से सृष्टि की अनित्यता के कारण ब्रह्म में अनित्यता की प्राप्ति होगी अथवा ब्रह्म के अंश के परिणाम से ब्रह्म में सावयवत्व होगा।[2]

- -

1• सच्चिदानन्दा स्वरूपमावृणोतीत्यावरणशक्तिः।

x x x x

ब्रह्मादिस्थावरान्तं जगत् जलबुद्बुद्वत् नामरूपात्मकं विक्षिपति सृजतीति विक्षेप-शक्तिः। वे० सा०, पृ० 86-86 से उद्धृत

2• न युक्तो युज्यते वास्य परिणामो न युज्यते।
कात्स्न्यार्द्ब्रह्मानित्यताप्तेरंशान् सावयवं भवेत्।।
मायाभिर्बहुरूपत्वं न कात्स्न्यार्न्नापि भागतः।
युक्तोऽनवयवस्यापि परिणामोऽत्रमायिकः।।

ब्र० सू०, पृ० 426 पर शांकरभाष्य

इसी प्रकार से एक अन्य स्थान पर यह सन्देह उत्पन्न किया गया है कि अप्रवर्तकत्व स्वभाव से ज्ञात आत्मा अथवा ब्रह्म सृष्टि में प्रवर्तक कैसे बन सकता है। क्योंकि उसके प्रवर्तक सिद्ध होने पर उसमें प्रवर्तकत्व का स्वरूप उपपन्न होने लगेगा। इसके सम्बन्ध में आचार्य का यह समाधान है कि अप्रवर्त स्वभावी भी प्रवर्तक हो सकता है जैसे चुम्बक स्वयम् रूप रहित अप्रवर्तकत्व स्वभाव से युक्त संसार में लौहादि के सम्बन्ध में प्रवर्तित देखी जाती है। उसी प्रकार से अप्रवर्तक ब्रह्म भी सृष्टि का प्रवर्तक स्वीकार किया जा सकता है।[1]

इसी प्रकार से आचार्य शंकर सत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है- इसका समाधान देते हुए उदाहरण देते हैं कि सत् ही दूसरे आकार में स्थित हो पाता है जैसे कि सर्प कुण्डलीरूप हो जाता है, मृत्तिका चूर्णरूप हो जाती है, वही पिण्ड, घट, कपाल आदि के रूप में हो जाती है।[2] इसी प्रकार ब्रह्म नाम रूपात्मक जगत् में परिवर्तित प्रतीत होता है। और इन सभी सिद्धान्त प्रतिपादकों से वह निरूपित होता है कि सद् रूप ब्रह्म ही इस सृष्टि का आदि कारण स्वीकार किया जा सकता है।

---

1. ननु देहादिसंयुक्तस्याप्यात्मनो विज्ञानस्वरूपमात्रव्यतिरेकेण प्रवृत्त्यनुपपत्तेरनुपपन्नं प्रवर्तकत्वमिति चेत् चेत् न। . . . . अविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपमायावेशवशेनासकृत्प्रत्युक्तत्वात्। तस्मात्संभवति प्रवृत्तिः सर्वज्ञकारणत्वे न त्वचेतनकारणत्वे। ब्र० स० पृ० 449 शांकरभाष्य;

2. सत्यमेवं न सतः सदन्तरमुत्पद्यते कि तर्हि ? सदेव संस्थानान्तरेणावतिष्ठते। यथा सर्पः कुण्डलीभवति। यथा च मृच्चूर्णपिण्डघटकपालादिप्रभेदैः।

छा० उ०, पृ० 593 पर शांकरभाष्य।

ब्रह्म: उपादान या निमित्तकारण

सृष्टि की संरचना में ब्रह्म की कारणता का विचार करने के साथ-साथ यह भी विचार किया गया है कि ब्रह्म सृष्टि का उपादान कारण है अथवा निमित्त कारण। तब यह कहा गया कि जिस प्रकार मकड़ी जाल रूप अपने कार्य के प्रति चैतन्य प्राधान्य के कारण निमित्तकारण है और अपने शरीर प्राधान्य के कारण उपादान कारण है। इस निरूपण के सन्दर्भ में उपनिषद् की मूल अवधारणा का भी उद्धरण वहाँ पर किया गया है।[1]

एक अन्य स्थान पर भी इसका विवेचन किया गया है और यह कहा गया है कि समस्त जगत् का उपादानत्व ही ब्रह्म लक्षण है। उपादान का लक्षण है अध्यास का अधिष्ठानत्व अथवा जगत् के आकार में परिणत हुई माया का अधिष्ठानत्व। इसलिए यह कहा गया है कि "इदं सर्वं यदयमात्मा"।[2] आचार्य शंकर ने भी संक्षिप्त रूप से ब्रह्म के उपादान और निमित्त कारण का कथन किया है और कहा है कि मृत्तिका से ही घटोपलब्धि होती है और तन्तुओं से पटोपलब्धि। इसी तरह निमित्त कारणों के अभाव में कुलाल के रहने पर भी घटाभाव होता है।[3]

---

1. यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्तं स्वशरीर प्रधानतयोपादानं च भवति। वे0 सा0, पृ0 89

x x x x

यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च ।
यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति ।।
यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि ।
तथाक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।। वही, पृ0 89 पर उद्धृत

2. निखिलजगदुपादनत्वं ब्रह्मणो लक्षणम्। उपादानत्व च जगदध्यासाधिष्ठानत्वम् जगदाकारेण विपरिणममानमायाधिष्ठानत्वं वा । वे0 प0 , पृ0 332
3. ब्र0 सू0 शांकरभाष्य, पृ0 407

सृष्टि-प्रलय

छान्दोग्योपनिषद् ब्रह्म का उपदेश करती हुई कहती है कि यह सम्पूर्ण जगत् निश्चय ही ब्रह्म है। यह उसी से उत्पन्न होता है, उसी में लीन होता है और उसी में चेष्टा करता है। इस प्रकार इस लोक में जैसे पुरुष निश्चयवाला होता है वैसे ही यहाँ मरकर जाने पर होता है।[1]

इस पर अपना भाष्य प्रस्तुत करते हुए आचार्य शंकर ने यह प्रतिपादित किया है कि तेज, अप् और अन्नादि क्रम से सारा जगत् उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है, इसलिए यह "तज्ज" है। तथा उसी जननक्रम के विपरीत क्रम से उस ब्रह्म में लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूप में उससे मिल जाता है इसलिए "तल्ल" है। अपनी स्थिति के समय उसी में अनन- प्राणन करता है इसलिए "तदन" है।[2] इस रूप में जो प्रतिपादन आचार्य द्वारा किया गया है उससे यही ज्ञात होता है कि जिस ब्रह्म से यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ है उसी में विपरीत क्रम से इसके लय होने को ही प्रलय कहा जा सकता है। यही सृष्टि का अवसान अथवा प्रलय है।

---

1. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।
   वही, पृ० 303

2. तज्जलानिति तस्माद् ब्रह्मणो जातं तेजोऽबन्नादिक्रमेण सर्वम्, अतस्तज्जम्; तथा तेनैव जननक्रमेण प्रतिलोमतया तस्मिन्नेव ब्रह्मणि लीयते तदात्मतया श्लिष्यत इति तल्लम्, तथा तस्मिन्नेव स्थितिकालेऽनिति प्राणिति चेष्टत इति। एवं ब्रह्मात्मतया त्रिषु कालेष्वविशिष्टं तद्व्यतिरेकेणाग्रहणात्। अतस्तदेवं जगत्। वही, पृ० 304 पर शांकरभाष्य।

एक अन्य सन्दर्भ में यह कहा गया है कि इस संसार में जितने भी पदार्थ लक्षित होते हैं वे सभी काल्पनिक हैं। नित्यस्वरूप परमात्मा ही एक मात्र सत्य है। जिस तरह काल्पनिक कटक, कुण्डल आदि आभूषणों के लिए स्वर्ण सत्य है। इसी क्रम में यह कहा गया है कि जिस तरह से उपाधिभेद के कारण आकाश-भेद की प्रतीत घटाकाश, मठाकाश, पटाकाश के रूप में होती है और उपाधि के नष्ट होते ही यह भेद मिट जाता है उसी प्रकार इन्द्रियों के अधिष्ठाता परम परमात्मा उपाधिभेद के कारण ही भिन्नवत् प्रतीत होता है। उपाधि नष्ट होते ही वह एक मात्र और अद्वितीय है।[1]

कठोपनिषद् कहती है कि मृगतृष्णा, रज्जु और आकाश के स्वरूपज्ञान से मृगजल, रज्जुसर्प, आकाशमालिन्य का बाधकर जैसे पुरूष स्वस्थ हो जाता है उसी तरह से सर्व प्रपञ्च नाम, रूप और कर्म का बाधकर विवेकी स्वस्थ हो जाता है।[2] इस रूप में यह जगत् प्रपञ्चात्मक है और इसका बाध ही प्रलय है।

---

1. सच्चिदात्मन्यनुस्यूते नित्ये विष्णौ प्रकल्पिता: ।
   व्यक्तयो: विविधा: सर्वा हाटके कटकादिवत् ।।
   x x x x
   यथाकाशो हृषीकेशो नानोपाधिगतो विभु: ।
   तद्भेदादिद भिन्नवद् भाति तन्नाकाशादेकवद् भवेत् ।।
   आ० वि०, पृ० 51-52

2. एवं पुरूष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितम्····
   ········यथाज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव·········स्वस्थ:
   प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति। वही, पृ० 86 पर शांकरभाष्य

वेदान्त परिभाषा में प्रलय का निरूपण करते हुए इसका आख्यान चार रूपों में किया गया है। वहाँ कहा गया है कि प्रलय का अर्थ है- त्रैलोक्य नाश। यह नाश नित्य, प्राकृतिक, नैमित्तिक तथा आत्यन्तिक रूप से चार प्रकार का होता है। इनमें से सुषुप्ति नित्य प्रलय है क्योंकि यह समस्तकार्य प्रलय रूपी होती है। इसमें धर्म, अधर्म, संस्कार कारण रूप से विद्यमान रहते हैं।[1]

प्राकृत प्रलय का अर्थ है कि कार्यब्रह्म के विनाश होने से समस्त कार्यों का विनाश होता है। इस प्रलय में समस्तलोकभूत कार्यों का प्रकृति में लय होता है।[2]

नैमित्तिक प्रलय के विषय में यह कहा गया है कि कार्य ब्रह्म का दिन समाप्त होने से होने वाले केवल त्रैलोक्य के लय को नैमित्तिक प्रलय कहते हैं। इस प्रलय के प्रमाण के रूप में पुराण वचनों का भी वहाँ पर उदाहरण दिया गया है।[3] चतुर्थ प्रलय तुरीय प्रलय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह परब्रह्म के साक्षात्कार से होने वाला सर्वमोक्ष तुरीय प्रलय है। यह चतुर्थ प्रकार का प्रलय ज्ञानोत्पत्ति

1• प्रलयो नाम त्रैलोक्यनाशः, स च चतुर्विधः- नित्यः प्राकृतो नैमित्तिक आत्यन्तिकश्चेति। तत्र नित्यः प्रलयः- सुषुप्तिः, तस्याः सकलकार्यप्रलयरूपत्वात्। धर्माधर्मपूर्व-संस्काराणां च तदा कारणात्मनाऽवस्थानम्। वही, पृ0 343

2• प्राकृतप्रलयस्तु कार्यब्रह्मविनाशनिमित्तकः सकलकार्यनाशः।......निखिललोक-तदन्तर्वर्तिस्थावरादीनां भौतिकानां भूतानां च प्रकृतौ मायायां च लयः। वही, पृ0 346- 347

3• कार्यब्रह्मणो दिवसावसाननिमित्तकस्त्रैलोक्यप्रलयः नैमित्तिकप्रलयः। प्राकृतप्रलये नैमित्तिकप्रलये च पुराणवचनानि। वही, पृ0 348

से होता है और इसमें अज्ञान हित कर्मों का उपरम होता है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में जब "बहु स्यां प्रजायेयेति" का व्याख्यान आचार्य शंकर ने किया तो कहा कि सत् से भिन्न अन्य कुछ नहीं है। और जो अन्य बुद्धि है वह विवेक दृष्टि से देखने के बाद निवृत्त हो जाती है। जैसे रज्जु का विवेक करने से "सर्प" शब्द और "सर्पबुद्धि," निवृत्त हो जाती है। अथवा मृत्तिका का विवेक करने पर घटादि की बुद्धि निवृत्त हो जाती है। उसी तरह "सत्" का विवेक करने पर विकृतबुद्धि से उत्पन्न जगत् की निवृत्ति हो जाती है।[2]

किस क्रम से प्रलय होता है इस पर आचार्य ने यहमत . निरूपित किया है कि उत्पत्ति -क्रम के विपरीत स्वरूप वाला प्रलयक्रम होता है। जैसे कि लोक में देखा जाता है कि जिस क्रम से कोई सीढ़ी पर चढ़ता है उसके विपरीत क्रम से उतरता है। इसी मृत्तिका से उत्पन्न घट और जल से उत्पन्न बर्फ आदि विनष्ट हो कर मृत्तिका और जल ही होते हैं। और यह लौकिक मरण जीवाश्रित देहादि का ही होता है व्यवहार केवल जीव का कहा जाता है।[3]

---

1. तुरीयप्रलयस्तु ब्रह्मसाक्षात्कारनिमित्तकः सर्वमोक्षः। तत्राद्यास्त्रयो प्रलयाः कर्मोपरति निमित्ताः, तुरीयस्तु ज्ञानोदयनिमित्तो लयोऽज्ञानेन सहैवेति विशेषः। वे० प०, पृ० 349

2. सदेव तु सर्वं अभिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्धया। यथा रज्जुरेव सर्पबुद्धया सर्प इत्यभिधीयते यथा वा पिण्डघटादि मृदोऽन्यबुद्धया • • • • • •तद्वत्सद्विवेकदर्शिनामन्यविकारशब्दबुद्धी निवर्तेते। वही, पृ० 597 शांकरभाष्य

3. विपर्ययेण तु प्रलयक्रमोऽत उत्पत्तिक्रमाद् भवितुमर्हति। तथाहि लोके दृश्यते येन क्रमेण• • • • • • • • •जातं हिमकरकाद्यब्भावमप्येति।"
ब्र० सू०, पृ० 559 पर शां० भा०

जीवस्य जन्ममरणे वपुषो वात्मनो हि ते।
मुख्ये ते वपुषो भवते जीवस्यैते अपेक्ष्य हि।। वही, पृ० 563

आत्मा तथा ब्रह्म में साम्य-वैषम्य

"ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या नेह नानास्ति किंचन"- इस कथन का इतना अधिक प्रभाव है कि लगभग सभी यह जानते हैं कि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है और यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् कुछ भी सत् नहीं है। पर यह सद्रूप ब्रह्म जब आत्मा रूप से वाच्य होता अथवा इसे जीवात्मा के रूप में जाना जाता है, तब यह कहा जा सकता है कि यह एक, सबका नियन्ता, सभी का अन्तरात्मा स्वयम् को ही नाना रूपों में कर लेता है।[1] तब यह ब्रह्म, पुरुष, अक्षर, ज्ञ, परमात्मा, परमेश्वर जीवादि रूप से कहा जाने लगता है। किन्तु जब उस ब्रह्मातिरिक्त जीव की ग्रन्थि-याँ छूट जाती हैं तो वह ब्रह्म ही हो जाता है।[2]

किन्तु उपनिषदें अपने मूल कथन में कहीं-कहीं ब्रह्म और आत्मा की साम्यता का कथन करती हैं और कहीं-कहीं इन दोनों की विषमता की कथन भी करती हैं। आचार्य शंकर भी अपने भाष्य में इसी रूप से ब्रह्म् और आत्मा का आख्यान करते हुए देखे जा सकते हैं। जैसे ब्रह्म के सर्वकर्मत्व, सर्वकामत्व, सर्वरसत्व का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि यह मेरा आत्मा हृदयकमल के मध्य में स्थित है। यही ब्रह्म है जिसे इस शरीर से मरकर मैं इसी को प्राप्त करूँगा। इस कथन में आत्मा और ब्रह्म की एकरूपता का कथन स्पष्टरूप से किया गयाहै।[3]

1· एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
क0 उ0, पृ0 126

2· वही, पृ0 151

3· सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः · ······· · ·एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति · · · · · ।
छा0 उ0 , पृ0 312

आचार्य शंकर इसके व्याख्यान में यह कहते हैं कि यहाँ पर यद्यपि आत्मा से प्रत्यगात्मा का ही निरूपण नहीं किया गया है किन्तु "मम" शब्द के प्रयोग से सम्बन्धार्थ की प्रतीति होती है और इससे ब्रह्म और आत्मा के कर्मत्व तथा कर्तृत्व का निर्देश किया गया है।[1] इसी तरह से जब आचार्य क्रमसे सूक्ष्म-सूक्ष्मतर आत्मा का उपदेश करते हैं तो यह कहते हैं कि जो नेत्र में दिखाई देता है वह प्राणियों का आत्मा है यह अमरणधर्मा, अविनाशी और अभय है इसी से यह ब्रह्म अर्थात् बृहत् तथा अनन्त है।[2] इस कथन में हम देखते हैं कि ब्रह्म और आत्मा की साम्यता कथित है तथाउपनिषद् और उसके भाष्यकार आचार्य का स्वर एक जैसा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् कहती है कि वह आत्मा ब्रह्म है, विज्ञानमय है, मनमय है, प्राणमय है। इस मूल उपनिषद् के कथन का आचार्य शंकर भी तथैव अपना भाष्य प्रस्तुत कर देते हैं।[3]

- -

1. न त्वात्मशब्देन प्रत्यगात्मैवोच्यते, ममेति षष्ठ्याः सम्बन्धार्थप्रत्ययाक्तत्वात्, एतम् अभिसंभवितास्मीति च कर्मकर्तृत्वनिर्देशात्।

छा० उ० , पृ० 313 पर शांकर भाष्य

2. एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ।

वही, पृ० 420 ; 871 ; 882

x x x x

एष आत्मा प्राणिनामिति होवाचैवमुक्तवानेतद्यदेवात्मतत्त्वमवोचाम एतदमृतममरणधर्म्यविनाश्यत एवाभयं यस्य हि विनाशाशंका तस्य भयोपपत्तिस्तदभावादभयमत एवैतद् ब्रह्म बृहदनन्तमिति। वही, शांकरभाष्य, पृ० 421;

3. इ० द्वा०उ० , पृ० 372 ; छा० उ० , पृ० 640 पर शांकरभाष्य

वेदान्त परिभाषा में तो ब्रह्म और आत्मा को पृथक्- पृथक् रूप में कहा गया है और इसमें अपने प्रयोजन परिच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि इस ज्ञान का लक्ष्य है- ब्रह्म तथा आत्मा का ऐक्य।[1] इस कथन से स्पष्ट ही यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म और आत्मा दो पृथक् तत्त्व हैं और इनके स्वरूप-विवेचन में भिन्नता है फिर चाहे भले ही ये जीव और ब्रह्म हों तथा अविद्या के कारण जीव में ब्रह्म पार्थक्य का आभास हुआ हो।

किन्तु इस प्रकार के कथन करने के पश्चात् भी परम सत्य के रूप में जो कहा गया है तदनुरूप आत्मा और ब्रह्म का पार्थक्यकथन केवल संवृत्ति सत्य में ही हो सकता है; परमार्थसत् अर्थात् मुक्ति की अवस्था में इसका भेद कथन नहीं किया जा सकता है। इसीलिए आचार्य शंकर ने मूल श्रुतियों का उदाहरण देकर यह कहा है कि मुक्तिरूप अवस्था सभी वेदान्तों मे एकसदृश ही कही गई है। इसलिए ब्रह्म ही मुक्ति अवस्था है और ब्रह्म का अनेक आकार के साथ सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए यह सर्वाधार आत्मा नेति नेति करके कहा गया है।[2]

1• तत्त्वज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यगोचरम् । वही, पृ0 384

x x x x

2• न खलु मुक्तिफले कश्चिदेवंभूतो विशेषप्रतिनियम आशंकितव्य:। कुत: ।

तदवस्थावधृते: । मुक्त्यवस्था हि सर्ववेदान्तेष्वेकरूपैवावधार्यते। ब्रह्मैव हि मुक्त्यवस्था, न च ब्रह्मणो नेकाकारयोगो ऽस्ति। ब्र0 सू0 शांकरभाष्य, पृ0 952

पंचम् अध्याय

(आत्मवादी धारणा के विकास का स्वरूप और उसकी समालोचना)

पंचम अध्याय

****
****
******
****
**

§ आत्मवादी धारणा के विकास का स्वरूप और उसकी समालोचना §

वेदों में जीव- जगत्, ब्रह्म तथा आत्मा, उपनिषदों में शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, आत्मा व ब्रह्म, समालोचन, आत्मवादी दर्शनों में जीव, ईश्वर, आत्मा व ब्रह्म, आत्मवाद का समेकित स्वरूप तथा निष्कर्ष ।

पंचम अध्याय

(आत्मवादी धारणा के विकास का स्वरूप और उसकी समालोचना)

****

वैदिक साहित्य इस देश का एक ऐसा साहित्य है जो किसी भी विकसित भारतीय विचारधारा का उत्स कहा जा सकता है। इसीलिए जब भी हमें किसी भी वैचारिक और व्यवहारिक ज्ञान की प्रारम्भिक स्वरूपावस्थिति का आलोडन करना होता है तो वेदों का अवलोकन अपरिहार्य होता है। इसके लिए इस दृष्टि से जब आत्म-वाद की विचारधारा का विकासात्मक स्वरूप देखना है तो उसका प्रारम्भिक विचार वेदों से ही ज्ञात करना होगा।

वेदों में जीव-जगत्

यह तथ्य स्मरण रखना चाहिए कि वेद सभी प्रकार के विचारों को वाणी देते हैं किन्तु वे किसी भी विचार को न तो किसी क्रम से अवस्थित करते हैं और न ही कोई वर्णन किसी क्रम से करते हैं। इनकी इस प्रणाली को देखकर हम यह कह सकते हैं कि जीव और जगत् के सम्बन्ध में भी वहाँ पर अनेक प्रकार से अपने विचार दिए गए हैं। जैसे ऋग्वेद किसी एक असीम शक्ति के लिए हवि देता है और यह कहता है कि यह हवि हमारे उस सर्वशक्तिमान् देव के लिए है जो अपनी महिमा से सभी पर्वत उत्पन्न करता है, अपनी भुजाओं के रूप में सम्पूर्ण दिशाओं को फैलाता है। आशा और पृथिवी को अपने-अपने स्थान पर स्तम्भित करता है। स्वर्ग और आदित्य को रोककर अन्तरिक्ष में जल का निर्माण करता है।[1]

---

1. ऋक् [illegible], पृ० 1822

इसी प्रकार से उस अनन्त शक्ति ने पृथिवी को जन्म दिया, आकाश को जन्म दिया तथा प्रचुर मात्रा में जल उत्पन्न किया।[1] इसी शक्ति को ब्रह्म की संज्ञा से विभूषित किया गया तो कहा गया कि पृथिवी उसकी आधारभूमि है, अन्तरिक्ष उसका उदर है, द्युलोक उसका शिर है। चन्द्रमा और सूर्य उसके नेत्र एवम् अग्नि उसका मुख है। वायु प्राणापान, अंगिरा नेत्र तथा अग्नि उसका मुख है।[2]

एक विचारक का जगत् की उत्पत्ति और उसके स्वरूप के सम्बन्ध में यह कथन है कि वेदों में सृष्टि की प्रक्रिया को गृहनिर्माण की प्रक्रिया के साथ मिलाया गया है और विश्व - सृष्टि को देवों तथा असुरों जैसी दो विरोधी शक्तियों के संघर्ष का परिणाम कहा गया है। जैसे वृत्र प्रकाश तथा आप: को चुरा ले जाता है और जब इन्द्र अपने वज्र से उस पर आघात करता है तो आप: सूर्य एवम् उषस् की उससे मुक्ति हो जाती है। दार्शनिक दृष्टि से वृत्र वाक् या माया की निष्क्रिय अवस्था है और इन्द्र उसी से सूर्यादि को निकालकर उसकी सृष्टि कर देता है।[3]

जैसे वेद जगत् की संरचना का इस प्रकार का एक संकेतात्म रूप में वर्णन करते हैं उसी तरह से जीव की अवस्थिति का संकेत भी वेद किसी न किसी रूप में करते हैं। जैसे एक स्थान पर यह कहा गया है कि हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम यहाँ पर था, वही सभी भूतों (जीवों का) एक मात्र स्वामी है। उसने इस पृथिवी को धारण किया है।[4]

---

1. ऋक् IV, पृ0 1822
2. अथर्व0 II, पृ0 554 ;, ऋक् 10/190/3 ; अथर्व 15/2/15/5
3. वै0 द0, पृ0 154-155
4. ऋक्0 10/121/1

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर यह कहा गया कि हम किस देव को अपना हविष्यान्न दें तो यह वर्णन है कि वे अपनी महिमा से जीवों के अद्वितीय राजा हैं तथा वे द्विपदों और चतुष्पदों के प्रभु हैं।[1] कहीं पर जब प्रजा शब्द का प्रयोग किया गया है तो वह जीव के लिए ही किया गया प्रतीत होता है क्योंकि कहा यह गया है कि ज्ञानी सत्यरूप शक्ति को देखते हैं और उसी में प्रलयकाल में सभी प्रजा लीन होती है।[2]

ब्रह्म तथा आत्मा

जिस प्रकार जीव जगत् का संकेतित स्वरूप वेदों में प्राप्त है उसी प्रकार से ब्रह्म तथा आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में भी संकेत रूप में ही कथन किया गया है। जैसे यह कहा गया कि नपुंसक लिंग में जो ब्रह्म शब्द आया है, वह सूक्त और स्तोता ब्राह्मण के लिए आया है। किन्तु दर्शन के सन्दर्भ में उस ब्रह्म शब्द पर विचार किया जाता है जो भूत, भविष्य का अधिष्ठाता है और जो सृष्टि का सर्जक तथा प्रजापति है।[3]

वेद मुख्य रूप से विभिन्न देवताओं की स्तुतियाँ करते हैं और वे जब जिस देवता की स्तुति करते हैं उसकी महिमा का बखान अतिशायी रूप में करते हैं फिर वे उन सभी देवताओं में किसी एक शक्ति -सूत्र का स्वरूप देखना चाहते हैं और तब सम्भवत वे आत्मा ब्रह्म का कथन करते हैं। इस प्रकार के कथन

---

1. ऋक् 10/121/3
2. वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम् ।
   तस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु ।।
   यजु0, पृ0, 489 ; 280 ; ऋक्0 1/131/16
3. वै0 सा0 सं0 , पृ0 245

में वे पुरूष के रूप में जब उस तत्त्व को कहते हैं तो यह निरूपित करते हैं कि पुरूष ही यह सब है, जो भूत है, वर्तमान् है। इसका एक पद विश्व तथा इससे त्रिपाद अमृत हैं।[1]

एक अन्य स्थान पर ये प्रश्न किए गए हैं कि सबके अन्तर में बास करने वाला परमात्मा किन पदार्थों में रमा हुआ है, इस परमात्मा में कौन सी वस्तुएँ अर्पित हैं, यह जिज्ञासा पूर्वक तुमसे पूँछता हूँ। इसके उत्तर में कहा गया है कि परमात्मा सभी प्राणियों में रमा हुआ है।[2] अमृत तत्त्व आत्मा और ब्रह्म है क्योंकि जो संसार में विनाश और सम्भूति को जानता है, वह विनाश को पार करके सम्भूति अर्थात् अमृत को प्राप्त करता है।[3] ब्रह्म का स्वरूप इतना विस्तृत है कि वह पृथिवी का आधार है, अन्तरिक्ष उसका उदर तथा द्युलोक उसका शिर है।[4]

अथर्ववेद में विस्तार से उस पर विचार किया गया है कि जिसमें सत् और असत् निहित हैं उसे बताओ।[5]

इसके उत्तर में अथर्ववेद का ऋषि विस्तार से ब्रह्म की चर्चा करते हैं और यह निरूपित करते हैं कि जो पहले अजन्मा था, जिससे परे कोई भूत नहीं है उससे वह आत्मा प्राप्त हो जाता है। चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र हैं, अग्नि जिसका मुखरूप है, जो भूत, भविष्य और सभी में व्याप्त है, जो दिव्यलोक का

- -

1· ऋक् 10/90/2,3
2· यजु0, पृ0 405
3· वही, पृ0 555
4· अथर्व0 10/4/7/32
5· असच्च यत्र सच्चान्त: स्कम्भंतं ब्रूहि कतमस्विदेव स: । अथर्व0 10/4/7/10

अधिष्ठाता है, वह ब्रह्म प्रणम्य है। कामना से रहित, धैर्यवान्, स्वयम्भू ब्रह्म अपने ही रस से तृप्त हैं उसके ज्ञाता को मृत्यु का भय नहीं होता है।[1]

उपनिषदों में शरीर

शरीर की अनित्यता अथवा मरणधर्मिता के सम्बन्ध में उपनिषद् में किसी प्रकार की द्विविधा की मनः स्थिति नहीं है। वहाँ पर स्पष्टरूप से यह कहा गया है कि यह आत्मा का आधार रूप तो है किन्तु आत्मा जब एक शरीर का उत्क्रमण करके दूसरे शरीर को प्राप्त करता है तब वह पहले वाले शरीर को मार देता है। और इस तरह से आत्मा जिस-जिस देह का आश्रय लेता है इसी-उसी में आत्मभाव मानने लगता है।[2]

शरीर की इसी अनित्यात्मक दृष्टि से ही एक रूपक का कथन इस प्रकार से किया गया है जिसमें कहा गया है कि इस शरीर के अध्यक्ष आत्मा को रथ का स्वामी जानों और शरीर को रथ जानो।इस शरीर रूपी रथ में बुद्धि सारथी है तथा मन लगाम है।[3]

आत्मज्ञान होने पर यह शरीर छूट जाता है-ऐसा कथन भी किया गया है और यह कहा गया है कि आत्मज्ञान के पूर्व मुमे लोहे के समान सैकड़ों

1• अकामोधीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।। अथर्व0, पृ0562

2• तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवाय-
मात्मेदं शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरति।
ई0 द्वा0 उ0, पृ0 362

3• आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ।। क0 उ0 , पृ0 74

शरीरों ने जकड़ लिया था। ज्ञान प्राप्ति के बाद मैं उनसे छूट गया हूं।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में वृक्ष और उसकी शाखाओं के सूखने का उदाहरण देकर कहा गया है कि जैसे एक शाखा में रोग लगने पर वह शाखा सूख जाती है और यदि पूरे वृक्ष में रोग लग जावे तो पूरा वृक्ष सूख जाता है तदेव यह जानना है कि जीव के शरीर का त्याग कर देने पर यह शरीर मर जाता है, जीव कभी भी नहीं मरता है।[2]

इसी प्रकार इन्द्र के प्रति उपदेश करते हुए ऋषि ने स्पष्ट रूप से यह कहा कि इन्द्र। यह शरीर निश्चय ही मरणशील है, क्योंकि यह सर्वदा मृत्यु से ग्रस्त है। यह तो उस अमर अशरीरीआत्मा का उपलब्धि स्थान मात्र है। इसलिए सशरीर आत्मा निश्चय ही प्रिय तथा अप्रिय से ग्रस्त रहता है। अतः सशरीर रहते हुए इष्टानिष्ट का नाश सर्वथा नहीं हो सकता; इसके विपरीत अशरीर होने पर प्रिय और अप्रिय इसे स्पर्श नहीं करते।[3]

---

1. गर्भेनु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीर-
   रक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच।
   स एवं विद्वान स्माच्छरीरभेदादूर्ध्वम् उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्....।
   ई०द्वा०उ०, पृ० 107-108
2. एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्य........ तथा सोम्येति होवाच।
   वही, पृ० 674
3. मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधि-
   ष्ठानमात्तो वै स शरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रिया-
   प्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ।। वही, पृ० 706

देह और इन्द्रियों का स्वरूप अभिन्न सा ही है और इनकी शाश्वत अनित्यता देखकर ऋषि यह कह देते हैं कि आत्मा जैसे ही देहेन्द्रिय से संयुक्त हो जाती है वैसे ही पापबिद्ध हो जाती है।[1] इस रूप में शरीर को पाप के रूप में भी कह दिया गया है।

इन्द्रिय :-

आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन वाले लक्ष्य को सामने रखने वाली उपनिषदें आत्मा को जानने के क्रम में ही इन्द्रियों का उल्लेख करती हैं और यह कहती हैं कि शरीर की ही भाँति इन्द्रियाँ भी ब्रह्म तक पहुँचने में सक्षम नहीं है। वहाँ पहुँचने में नेत्र, वाणी , सक्षम नहीं है।[2] इस रूप में जैसे इन्द्रियों की अक्षमता आत्मज्ञान में कही गई है वैसे ही इन्द्रिय-समूह शरीर भी अक्षम कहा गया था। जब पूर्व में शरीर को अनृत कहा गया है तो स्वाभाविक है कि इन्द्रियाँ भी अनृतस्वभावी ही हैं।

इसी तरह से यद्यपि इन्द्रियाँ शरीर की भाँति ही अनृत और अनित्यभावी हैं किन्तु इन्हें शक्तिशाली उस रूप में प्रतिपादित किया गया है जिस रूप में अश्व शक्ति सम्पन्न होते हैं। इसी दृष्टि से ऋषि यह रूपक देते हैं कि रथरूपी शरीर को चलाने में सक्षम इन्द्रियाँ अश्वरूप हैं। जैसे लौकिक रथ को

- 5 5 -

1. स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसंपद्यमानः पाप्मभिः संसृज्यते----------------------। ई0 द्वा0 उ0 ,पृ0 36।

2. न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो-----------।
—ई0 द्वा0उ0 ,पृ0 6

अश्व संचालित करते हैं। वैसे ही शरीररूपी रथ को इन्द्रियाँ रूप में अश्व संचालित करते हैं।[1]

इन इन्द्रियों की संरचना के साथ-साथ इनके विषयों का भी आख्यान संकेत रूप से उपनिषद् में किया गया है। जैसे यह कहा गया है कि चाक्षुष पुरुष के रूप में ग्रहण करने के लिए नेत्रेन्द्रिय हैं, गन्धग्रहण के लिए नासिका है, शब्दोच्चारण के लिए वागिन्द्रिय है तथा श्रवण करने के लिए श्रोत्रेन्द्रिय है।[2]

प्राण:-

जब उपनिषदों के ऋषि अपने मूल लक्ष्य आत्मा के अन्वेषण और साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करते हैं तो वे अन्य अनेक तत्त्वों का विचार कर उनमें सद्रूपता, शक्तिमत्ता और अजिर स्वभाव के लक्षण पाते हैं। तब वे उनका कथन भी उसी विशेष रूप में करने लगते हैं जिस रूप में आत्मा का कथन किया जाता है। जैसे प्रश्नोपनिषद् में प्राण स्वयम् यह कहता है कि वह अग्नि होकर तपता है। यही सूर्य, मेघ, इन्द्र तथा वायु हैं। यही पृथिवी तथा जो भी सत्-असत् है, सब कुछ है।[3]

---

1. इन्द्रियाणिहयानाहुर्विषयास्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण: ।। क0उ0, पृ0 75

2. अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षु: स चाक्षुष: पुरुषोदर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माभिव्याहाराय वागथ यो वेदेद शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम्।
— छा0उ0, पृ0 93।

3. एषोऽग्निस्तपति एष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायु:।
एष पृथिवी रयिर्देव: सदसच्चामृतं च यत् ।। वही, पृ0 35

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, उसी तरह से ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्रिय, ब्राह्मण- सभी प्राण में अवस्थित हैं। प्राण ही प्रजापति है, वही गर्भ में संचार करता है, वही जन्म ग्रहण करता है और वही सभी इन्द्रियों के साथ स्थित रहता है। प्राण तू इन्द्र है, तेज के कारण रुद्र है और सौम्यरूप के कारण रक्षा करने वाला है। तू ज्योतिर्गण का अधिपति और अन्तरिक्ष में संचार करने वाला है।[1] इस रूप में प्राण का स्तवन ऐसे किया गया है जैसे सम्पूर्ण सृष्टि का संचालक -अध्यक्ष प्राण ही है।

यह प्राण सम्पूर्ण शरीर में इसलिए व्याप्त है क्योंकि यही पायु और उपस्थ में अपान को नियुक्त करता है, मुख तथा नासिका से निकलता हुआ नेत्र तथा श्रोत्र में स्थित होता है और मध्य में समान नाम से रहता है। इस प्राणाग्नि से ही सप्त ज्वालायें भी उत्पन्न होती हैं।[2]

इसी प्रकार तैत्तरीयोपनिषद् में कहा गया है कि इन्द्रियाँ प्राण के पीछे प्राणन करती हैं और अग्नि आदि देवगण प्राण के अनुगामी होकर प्राणन क्रिया करते हैं। प्राण ही प्राणियों का जीवन है इसीलिए वह आयु

- -

1. अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
   ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ।।
   xx x x xx
   प्रजापतिश्चरति गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे ।
   x x x x
   इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता । वही, पृ0 36- 37

2. पृ0 30, पृ0 47

कहा जाता है, जो कोई प्राण की ब्रह्मरूप में उपासना करता है वह पूर्ण आयु प्राप्त करता है। इसलिए यह शरीर का आत्मा है।[1]

छान्दोग्योपनिषद् में एक सन्दर्भ में वाणी, नेत्र, श्रोत तथा मन की परीक्षा का प्रकरण प्रस्तुत किया गया है और यह कहा गया है कि प्राण के बिना वाणी संसार में गूंगे की तरह रही, प्राण के बिना नेत्र संसार में अन्धे के समान रहे, प्राण के बिना श्रोत्र संसार में बहरे के समान रहे।[2] इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्राण के बिना इन सबकी व्यर्थता सिद्ध है।

प्राण सभी में प्राणन करता है, इन्द्रियों में श्रेष्ठ है और ब्रह्म-रूप है- ऐसा कथन करने के बाद भी उपनिषद् कहती है कि यह आत्मा नहीं, आत्मा से उत्पन्न होता है।[3] और इस प्रकार प्राण आत्मा न होकर भी आत्म-सदृश विशेषणों से विशेषित है।

मन

मन कैसा है, इसका स्वरूप किस प्रकार है- इस प्रकार की जिज्ञासा मन में रखकर आचार्यों ने यह प्रश्न उठाया है कि यह मन किससे प्रेरित होकर अपने अभीष्ट विषयों के प्रति जाता है।[4] तब इस प्रकार से उत्तर रूप में सभी

- -

1. प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव तु आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। तस्यैष एव शरीर आत्मा।
ई० द्वा० उ०, पृ०86

2. वही, पृ० 448 से 45।
3. आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिं शरीरे । प्र० उ० , पृ० 45
4. केनेषितं पतति प्रेषितं मनः । ई० द्वा० उ०, पृ० 6

इन्द्रियों का कार्य बताते हुए यह कहा गया कि मन ध्यान करने में पूर्ण सक्षम है और ध्यान ही इसका परम स्वरूप है।[1] मन मुख्य रूप में "विजिज्ञास्य" रूप का वाला है अर्थात् इससे जिज्ञासा का कार्य होता है। बृहदारण्यक में इसी लिए यह कहा गया है कि जो कुछ विस्पष्टरूप से जानने योग्य अभीष्ट है, वह सब मन का रूप है क्योंकि यही विजिज्ञास्य है। मन की इस विभूति को जानने वाले की रक्षा विजिज्ञास्य होकर मन ही करता है।[2]

मन में ब्रह्मत्व का आरोपण करते हुए और उसमें आनन्द की प्रतिष्ठा का आख्यान करते हुए बृहदारण्यक में कहा गया है कि निःसन्देह मन ही ब्रह्म है क्योंकि मन के बिना प्रयोजन के कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। मन ही आयतनहै और आकाश प्रतिष्ठा। इस मनोब्रह्म की उपासना आनन्दरूप से करनी चाहिए क्योंकि आनन्द उसका चतुर्थ पाद है। मन इसीलिए भी आनन्द-दाता है क्योंकि पुरुष मन से ही स्त्री को चाहता है और उसमें अपने अनुरूप पुत्र उत्पन्न करता है। ऐसा जानकर जो पुरुष मनोब्रह्म की उपासना करता है, मन उसे कभी भी नहीं छोड़ता ।[3]

जब कठोपनिषद् आत्मा के विषय में कहती है तो यह कहती है कि आत्मा का रूप दृष्टि में नहीं ठहरता; अतः उसे नेत्र के द्वारा कोई देख नहीं सकता है। आत्मा मन का नियमन करने वाली है और हृदयस्थ बुद्धिद्वारा मननरूप सम्यक् दर्शन से ज्ञात हो सकती है।[4] इस कथन में मन की मनन शक्ति और

1· वही, पृ0 105 ; छा0 उ0 पृ0 210
2· यत्किंच विजिज्ञास्यं मनस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वाऽवति।
वही , पृ0 287

3· वही, पृ0 355 - 356
4· न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। क0 उ0, पृ0 143

और इसकी आत्मज्ञान में कारणता का कथन है।

मन आयतम है अर्थात् स्वजातियों का आश्रय स्थल है जिस पर आचार्य शंकर ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि मन ही आयतन है। इन्द्रियों द्वारा लाए हुए एवं भोक्ता के प्रत्ययरूप विषयों का मन ही आयतन अर्थात आश्रय है। इसलिए मन आयतन कहा गया है।[1]

मन मुख्य है और अन्य इन्द्रियों की अपेक्षा इसकी तृप्ति से पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्य के तृप्त होने से विद्युत् तृप्त होती है, इन सबकी तृप्ति से भोक्ता प्रजा, पशु, अन्नादि से तृप्त होती है।[2]

इस रूप में मन की जिज्ञासावृत्ति और मननवृत्ति के साथ इसका भी कथन मनो ब्रह्म के रूप में करके ब्रह्म के रूप में करके ब्रह्म की प्राप्ति में सहायक तत्त्व के रूप में उपनिषदों में आख्यान किया गया है।

आत्मा व ब्रह्म

सत्य अथवा सत्, जिसका मुख स्थान हिरण्यमय पात्र से {व्यष्टि - समष्टिरूप अहंकार से} ढंका हुआ है, उसका अन्वेषण करना और साक्षात्कार

---

1. मनो ह वा आयतनम्। इन्द्रियोपहृतानां विषयाणां भोक्त्रर्थानां प्रत्ययरूपाणां मन आयतनमाश्रयः ; अतो मनो ह वा आयतनमित्युक्तम। छ
छा० उ०, पृ० 446 पर शांकरभाष्य
2. समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति।
वही, पृ० 567

करना उपनिषद् दर्शन का लक्ष्य और आदर्श है। इस निमित्त ईशोपनिषद् में आचार्य पूषन् से प्रार्थना करते हैं कि हे पूषन् ! सत्य ब्रह्म का द्वार ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है इसलिए मुझ सत्यधर्मा जिज्ञासु को उस सत्यात्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उससे अपना आवरण हटा ले।[1]

यह सत्य किस रूप में है और उसकी प्राप्ति का क्या उपाय है- सम्पूर्ण उपनिषदें इसी विचार से भरी हैं। इसलिए पृथक्-पृथक् आचार्य अपने-अपने अपने सामने उपस्थित प्रश्नों का समाधान देते हुए अपने ढंग से अपनी बात कहते हैं और आत्मा तथा ब्रह्म का स्वरूप प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हैं। जैसे प्रश्नोपनिषद् में जब यह प्रश्न किया गया कि वह आत्मा कैसा है। तो उत्तर दिया गया कि यही द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा तथा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह पर अक्षर आत्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित होता है।[2] और इस रूप में आत्मा को द्रष्टा, रसग्रहण कर्ता, स्पर्श कर्ता, घ्राण ग्रहणकर्ता तथा बोद्धा के रूप में प्रतिपादित किया गया है तथा उसे ही सर्वातिशायी के रूप में कहा गया है।

आत्मस्वरूप का स्पष्ट कथन कठोपनिषद् में इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि यह आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है न किसी कारण से आता है और न ही स्वत: अर्थान्तर रूप से उत्पन्न हुआ कहा जाता है और न ही स्वत: अर्थान्तर रूप से उत्पन्न हुआ कहा जाता है। वह

---

1. हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तन्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। ई० उ० , पृ० 4

2. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता
विज्ञानात्मा पुरुष: स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते । वही , पृ० 77

अज, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी मरता नहीं है। इसी प्रकार से यह भी प्रतिपादित है कि वह आत्मा अणु से भी सूक्ष्म, महान् से भी महत्तर प्राणी की हृदयरूप गुहा में अवस्थित है। निष्काम पुरूष उस आत्मा की महिमा को देखता है तथा शोक-रहित हो जाता है।[1]

इसी उपनिषद् में एक ऐसा कथन है जिसमें इन्द्रियों से अर्थ, अर्थ से मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से आत्मा और आत्मा से पुरूष की श्रेष्ठता कही गई है जिससे यह प्रतीत होता है कि आत्मा महतत्त्व के रूप में कही गई प्रतीत होती है जिसे आचार्य आगे अपनी व्याख्या में भी महद् शब्द ही देते हैं। इस महद् से पुरूष श्रेष्ठ है और पुरूष की अपेक्षा अन्य कोई श्रेष्ठ नहीं है।[2] जबकि ऐतरेयोपनिषद् कहती कि यह चेतनरूप आत्मा से ही इस लोक से उत्क्रमण कर अमर होता है।[3] आत्मा रूप में भूमा सर्वत्र है- इसका कथन भी किया गया है।[4]

---

1. न जायते न म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चिद्।
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
   x x x x
   अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
   तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः।। वही, पृ0 61-63
2. महतः परमव्यक्तात्पुरूषः परः।
   पुरूषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा परा गतिः।। वही, पृ0 8।
3. स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुस्मिन् ...../ ई0 द्वा0 उ0, पृ0 109
4. छा0 उ0, पृ 795

आत्मा के कथन में जहाँ उपनिषदें इसके स्वरूप प्रतिपादन में एकदम से दृढ़ता पूर्वक आत्मस्वरूप का कथन नहीं करती वहीं ब्रह्म के स्वरूप और उसके निरूपण में वे अपनी स्पष्ट विचारधारा व्यक्त करती हैं। जैसे कैवल्योपनिषद् में यह विवेचन है कि ब्रह्म से ही समष्टि-व्यष्टि उत्पन्न हुई, वह ही सम्पूर्ण जगत् का आधार और महान् है वह तुम और मैं हूँ। जो सच्चिदानन्द जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति सम्पूर्ण प्रपञ्च को प्रकाशित करता है तथा जिसे जानकर अधिकारी पुरुष बन्धन से मुक्त हो जाता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में जो भोग्य तथा भोक्ता है जो विलक्षण, साक्षी, सदाशिव तथा चिन्मात्र है। जिस सच्चिदानन्द स्वरूप में सम्पूर्ण जगत प्रकाशित हुआ है जिसमें सभी कुछ प्रतिष्ठित है तथा जिसमें सम्पूर्ण विश्व लीन हो जाता है। वह पूर्ण से पूर्ण, अणु से अणु, विचित्र और पुरातन है तथा सम्पूर्ण विश्व का शासक है। हिरण्यरूप तथा कल्याणरूप शिवतत्व मैं ही हूँ।[1]

---

1. यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
   सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स तत्त्वमेव तत्त्वमेव तत्।
   जाग्रतस्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते ।
   तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते।।
   त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
   तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः।
   मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
   मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्।।
   x x x x
   अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमहं विचित्रम्।
   पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ।।
   ई0 द्वा0 उ0 , पृ0 458-459

ब्रह्म की स्वरूपावस्थिति का क्रमिक चित्रण छान्दोग्योपनिषद् में इस रूप में किया गया है जिसमें यह कहा गया है कि जो चित्त, ध्यान, अन्न, जल आदि के क्रम से "यह ब्रह्म है" ऐसी उपासना करता है वही उसी रूप में हो जाता है किन्तु जब तक मनुष्य को सुख नहीं मिलता, तब तक वह कुछ नहीं करता। सुख मिलने पर ही वह सब कुछ करता है। इसलिए सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिए। और भूमा है निश्चय ही वही सुख है; अल्प में सुख नहीं है।[1]

प्रज्ञानरूप आत्मा का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि यही ब्रह्म, इन्द्र, प्रजापति, प्रज्ञानरूप है।[2] यह सभी कुछ जो भी दृष्टिगत जगत् है, उसी से उत्पन्न होने वाला है, उसी में चेष्टा करने वाला है, और उसी में लय हो जाने वाला है।[3]

ब्रह्म की बृहत्ता का स्वरूप इस रूप में वर्णित है जिसमें यह कहा गया है कि वही ब्रह्म मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र रूप से हो गया। जो ब्राह्मण तथा अग्नि रूप से ब्रह्म की उपासना किए बिना ही इस लोक से चला जाता है, वह अज्ञात शोकनिवृत्ति रूप आत्मा का पालन नहीं करता।[4] और इस रूपमें ब्रह्म को ही एक मात्र जगत् का कारण बताकर इसी के साक्षात्कार का लक्ष्य उपनिषदें सामने रखती हैं।

1· यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। भूमानं भगवो विजिज्ञास इति। छा० उ०, पृ० 785

2· ई० द्वा० उ०, पृ० 109

3· सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।
छा० उ०, पृ० 303

4· तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोकमिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्यां हि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। ई० द्वा० उ०, पृ० 282

समालोचन

इस रूप में यदि हम आत्मा और ब्रह्म की स्वरूपावस्थिति का निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहें तो अपना अभिमत इस रूप में व्यक्त कर सकते हैं कि यद्यपि उपनिषदें ऐसे सद् तत्त्व का अन्वेषण करना चाहती हैं जो एकमात्र सत् हो और जिसका साक्षात्कार कर जीव स्वयम् भी सद् स्वरूप हो जाए। किन्तु आत्मरूप में अथवा ब्रह्म रूप में कहे गए इस सद् का विवेचन वे क्रमश: संसार के पदार्थों की परीक्षा करते हुए करती हैं।

उपनिषदों का यह अभिमत कि शरीर नाशवान है और इन्द्रियों का समूह वाचक शरीर जब नाशवान है तो इन्द्रियाँ स्वयम् विनाशी सिद्ध हुई किन्तु इस कथन की प्रामाणिकता के लिए भी उपनिषदें तर्क से यह निरूपित करती हैं कि यह अनित्यात्मक तथा विनाशी है। वैसे प्रत्यक्षत: ही यह निष्कर्ष हो सकता है कि शरीर नित्यस्वभावी नहीं है और इन्द्रियाँ भी इस रूप वाली नहीं हो सकतीं।

जहाँ तक मन और प्राण के विषय में उपनिषदों की विचारधारा का प्रश्न है तो वह भी सतर्क विचारधारा है जिससे मन की मनन शक्ति का कथन किया जाता है और कहा जाता है कि शरीर तथा इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म स्वाभावी और ध्यान का आधार है। प्राण तो और भी प्रभावी तथा प्राणवान तत्व है जिसके बिना प्राणी का संसार में प्राणवान रहना भी सम्भव नहीं है। यह इसी से उपनिषदें प्रमाणित करती हैं कि अन्य इन्द्रियाँ तभी सार्थक हैं जब प्राण शरीर में हैं।

इसलिए इन सब पर विचार करने के बाद आत्मा और ब्रह्म की सद्रूपता का निष्कर्ष उपनिषदें देती हैं यद्यपि आत्मा को भी जीवात्मा के रूप में रहकर अविद्या अथवा माया के द्वारा बद्ध बता कर उसके माया से मुक्त होने का क्रम निरूपित करती है। ब्रह्म शुद्ध, मुक्त, चैतन्य तथा एक मात्र सद् तो है ही।

आत्मवादी दर्शनों में जीव

अनात्मवादी दर्शनों के विपरीत आत्मवादी दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय आत्मतन्त्व है और इसी दृष्टि से वे अजर, अमर, अज, अद्वैत निराकार, नित्यात्मक तन्त्व के रूप में आत्मपदार्थ का प्रतिपादन भी करते हैं किन्तु जगत् पदार्थों की व्यवहारिक सत्ता का अपलाप न हो सकने के कारण तथा कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पुनर्जन्मादि की व्यवस्थाओं के कारण वे दार्शनिक ब्रह्म अथवा आत्मा के स्वरूप को अविद्यादि माया के मोह से मोहित होने पर उसे जीव की संज्ञा से भूषित करते हैं।

इस क्रम में सर्वप्रथम हम न्याय और वैशेषिक की दृष्टि को देखने की चेष्टा यदि करें तो यह प्रतीत होगा कि न्याय दर्शन में जीव शब्द का प्रयोग किया गया है और उसे परमात्मा के रूप से भिन्न कहा गया है। जैसे अन्नंभट्ट ने यह कहा कि ज्ञान का अधिकरण आत्मा है, वह जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद से दो प्रकार का है। परमात्मा एक है जबकि जीवात्मा प्रति शरीर में भिन्न है।[1] आत्मा के आठ गुण हैं। बुद्धि,सुख, दुख, इच्छा, द्वेष,प्रयत्न, धर्म और अधर्म ।इनमें से बुद्धि,इच्छा और प्रयत्न ये तीनों दो-दो प्रकार के हैं। ईश्वर की बुद्धि, इच्छा तथा प्रयत्न नित्य हैं।जीव की बुद्धि,इच्छा और प्रयत्न अनित्य हैं।[2]एक अन्य स्थान

---

1. त0 सं0 (न्या0), पृ0 16
2. बुद्ध्यादयोऽष्टावात्ममात्रविशेषगुणाः। बुद्धीच्छाप्रयत्ना नित्या अनित्याश्च। नित्या ईश्वरस्य, अनित्या जीवस्य । वही, पृ0 99

पर यह कहा गया है कि शरीर में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली आत्मा का अनुमान होता है और इस रूप में यह कहा जा सकता है कि जो शरीराश्रम में है, वह जीवात्मा कही जा सकती है।[1] वैशेषिक दर्शन की दृष्टि भी न्याय दर्शन जैसी ही है, इसमें कोई विशेष भिन्नता नहीं है।[2]

सांख्य और योग में यद्यपि पुरुष बहुत और एकात्मक प्रकृति की अवधारणा है किन्तु सृष्टि के क्रम में, और विशेषकर शरीर के त्रिविध स्वरूप के वर्णन के क्रम में जीव की स्थिति तथा अपेक्षा का संकेत किया गया है। जैसे सांख्य शास्त्रकार यह मत रखते हैं कि अदृश्य किन्तु अनुमेय शरीर सूक्ष्म शरीर है जो एक प्रकार से जीव का ही वाचक है। यह शरीर उस स्थूल शरीर से भिन्न है जो नष्ट हो जाता है। यह सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न, अप्रतिहत गति, स्थायी, महत्तत्व से लेकर सूक्ष्म तन्मात्राओं तक, भोग रहित, धर्माधर्मभावों से युक्त लिंग (सूक्ष्म) शरीर संसरण या गमनागमन करता है।[3] यह "ज्ञ" पुरुष से वाच्य नहीं है अपितु "बद्ध" पुरुष से वाच्य हो सकता है क्योंकि यही बद्धपुरुष स्वयम् में कर्तृत्व, भोक्तृत्व का अनुभव करके स्वयम् मुक्त होता हुआ भी बद्धवद् आचरण करने लगता है।[4] योग यह स्वीकार करता है कि हृदयाकाश में जो पुरुष है, वह अमृतरूप और ज्योतिर्मय है

---

1. न्या० क० , पृ० 199
2. वही, पृ० 139-140
3. पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
   संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।। त० कौ० प्र०, पृ० 274
4. भा० द०, पृ० 298 - 299

किन्तु अन्त:करण की परीच्छिन्नता से वह भी परीछिन्न कहलाता है और इसकी संज्ञा जीव हो जाती है।[1]

पूर्वमीमांसा तथा उतरमीमांसा अर्थात् वेदान्त दर्शन में जीव के स्वरूप के सम्बन्ध में पूर्व संकेत किया जा चुका है। यहाँ पर केवल इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा कि पूर्व मीमांसा में आत्मा को चैतन्य का आश्रम कहा गया है तथा यह माना गया है कि सभी ज्ञानों में स्वात्मा का कर्तृत्वेन तथा ज्ञान का ज्ञानत्वेन भान होता है।[2]यह कहना इस तथ्य का संकेत है कि आत्मा की कर्तृत्वशकित और ज्ञानशकित के प्रतिपादन से उसमें जीव रूप का बोधन होने लगता है। श्लोकवार्तिककार ने इस सम्बन्ध में अपना यह तर्क दिया है कि अनित्यता दो प्रकार की होती है- एक विकार स्वरूप और दूसरी स्वरूपोच्छेद स्वरूप। इस रूप में जो आत्मा विकारी स्वरूप से अनित्य है, वह जीव रूपिणी कही जा सकती है और उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व सिद्ध हो सकता है।[3]

वेदान्त दर्शन में, जिसे उत्तर मीमांसा का नामदिया जाता है, स्पष्टरूप से यह स्वीकार करता है कि ब्रह्मातिरिक्त अन्य किसी तन्त्व की अवस्थित नहीं बन सकती है, इस लिए स्वतन्त्ररूप से जीव का भी कोई स्वरूप नहीं है किन्तु ब्रह्म अपनी ही मायात्मक अविद्या से जब कर्तृत्व, भोक्तृत्व के बन्धन से बंध जाता है तो वह जीव पद नाम को प्राप्त कर लेता है। इसकेलिए जब जीव

---

1. पा० यो० प्र०, पृ० 96
2. मा० मे० , पृ० 183
3. नानित्यशब्दवाच्यत्वमात्मनो विनिवार्यते।
   विक्रियामात्रवाचित्वे न ह्युच्छेदोऽस्य तावता ।। वही, पृ० 844-845

विवेक द्वारा शरीर से समुत्थान करके देहाभिमान त्यागकर पर ज्योति को प्राप्त होता है तो वह अपने स्वरूप से निष्पन्न हुआ- यह सुना जाता है।[1] इस रूप में वेदान्त जीवात्मा के रूप में कर्ता और भोक्ता का अनुभावक उसे मानता है।

ईश्वर

ईश्वर तत्त्व को लेकर विविध दर्शन- सम्प्रदायों में पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन के सन्दर्भ में यह कहा जाताहै कि न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन के प्राचीन आचार्यों ने प्रत्यक्षरूप से ईश्वर का विचार नहीं किया है किन्तु इसका अभिप्राय यह भी नहीं है कि इन दर्शनों में इन दर्शनों में ईश्वर पर विचार ही नहीं किया गया था; क्योंकि ईश्वर के मानने की आवश्यकता जब हुई तब उसका विचार किया गया अन्यथा उसके विचार करने की आवश्यकता ही क्या थी।[2]

न्याय के आचार्यों ने जब ईश्वर का कथन किया है तो कहा है कि इस सन्दर्भ में जो ईश्वर-प्रमाण प्राचीन श्रुतियों में दिए गए हैं वे सार्थक हैं। प्रशस्तपादभाष्य की न्यायकन्दली टीका में यह कहा गया है कि प्राणियों की "भोगभूति" अर्थात् सुख और दुःख के अनुभव के लिए महेश्वर की "सिसृक्षा" अर्थात् सृष्टि करने की इच्छा हुई। यद्यपि ईश्वर की असंख्य कार्यों की उत्पत्ति में व्यापृत इच्छा उनकी क्रियाशक्ति का रूप है, एवं दिगादि पदार्थों की तरह नित्य होने के कारण एक ही है फिर भी तत्कालरूप सहकारी को पाकर कहीं वह संहार का

---

1. "एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत" इति श्रूयते। ब्र0 सू0, पृ0 1055 पर भाष्य

2. भा0 द0, 223

कारण होती है और कभी सृष्टि का कारण बनती है।[1] और यही प्रशस्तपाद भी अपने भाष्य में कहते हैं कि जीवों के भोग सम्पादन के लिए महेश्वर को "सिसृक्षा" की इच्छा होती है।[2] जयन्तभट्ट ने तो स्पष्ट रूप से ईश्वर को वेद का कर्ता, सृष्टि का और प्रलय का नियन्ता तथा क्लेश- कर्मादि से अपरामृष्ट कहा है।[3]

इसी तरह से सांख्य और योग दर्शन भी ईश्वर का विवेचन अपने-अपने तर्कों से करते हैं। यद्यपि सांख्य के विषय में भी यह मान्यता रही है कि इसके प्राचीन आचार्यों ने ईश्वर पर विचार नहीं किया था। फिर भी पुरूष के रूप में जिस तत्व की कल्पना सांख्य ने की है, उससे सांख्य को निरीश्वरवादी भी नहीं कहा जा सकता।

योगदर्शन में ईश्वर को पुरूष-विशेष कर उसका लक्षण किया गया है कि क्लेश, कर्म, विपाक तथा आशयों से अपरामृष्ट पुरूष विशेष ईश्वर होता है। और इस ईश्वर के प्रणिधान से शीघ्र ही समाधि का लाभ होता है।[4]

पूर्व मीमांसा के विषय में भी यही कहा जाता है कि इसमें भी ईश्वर का विचार नहीं किया गया है; कमसे कम प्राचीन आचार्यों ने तो विचार नहीं ही किया है। किन्तु ऐसे विद्वान् भी हैं जो उदाहरण देकर सिद्ध करते हैं कि पूर्वमीमांसा भी ईश्वरवादी दर्शन है और मीमांसा के आचार्य येन- केन विधि

---

1. तेषां भोगभूतये सुखदुःखानुभवोत्पत्तये महेश्वरस्य सिसृक्षासजनेच्छा जायते। तदनन्तरं ....तथापेक्षा तत्कालविशेषसहकारिप्राप्तौ कदाचित् संहारार्था भवति, कदाचित् सृष्ट्यर्था भवति। न्या0 क0 , पृ0 127 - 128
2. ततः पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वर सिसृक्षानन्तरं.......। वही , पृ0 127
3. न्या0 मं0 पृ0 175
4. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरूष विशेष ईश्वरः।
   x x x x x
   ईश्वरप्रणिधानाद्वा। पा0 यो0 प्र0, पृ0 202

से ही चाहे क्यों न होवे; ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं। स्पष्ट रूप से ईश्वर विचार न करने का कारण यह है कि पूर्वमीमांसा मुख्य रूप से धर्म-अधर्म विवेचन में ही व्यापृत रहा।[1]

वेदान्त स्पष्टरूप से ईश्वर विवेचन करता है तथा अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करता है कि ईश्वर का अस्तित्व प्रामाणिक रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए। ईश्वर के सम्बन्ध में यह तर्क दिया गया है कि माया प्रकृति है और मायावी महेश्वर। उसी के अवयवभूत से यह सारा जगत् व्याप्त है। यह ईश्वर महान् है इसलिए इसे महेश्वर कहा गया है।[2] एक अन्य स्थान पर माया से अवच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर है। माया जब चैतन्य में विशेषण हो तब उस चैतन्य में ईश्वरत्व होता है।[3]

आत्मा व ब्रह्म

न्याय वैशेषिक, सांख्ययोग, तथा पूर्व मीमांसा में सभी दर्शन किसी न किसी रूपसेआत्मतत्त्व का विचार करते हैं। केवल सांख्य और योग आत्मा को आत्म नाम से व्यवहृत न करके उसका व्यवहार पुरुष नाम से करते हैं। न्याय दर्शन में आत्मा की सिद्धि के लिए यह तर्क दिया गया है कि हित पदार्थ की प्राप्ति और अहित पदार्थ का त्याग करने की इच्छा सबके मन में समान रूप से

1• सा० सु० वर्ष 17 अंक 13, पृ० 13

2• मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।
xx x x x
महांश्चासौ ईश्वरश्चेति महेश्वर: ।। श्वे० , पृ० 156

3• वे० प०, पृ० 92-93

होती हैं। यह इच्छा ही इस बात का प्रमाण है कि शरीर से व्यतिरिक्त अन्य चेतन कोई तत्त्व है जो आत्मा के रूप में जाना जाता है। यह आत्मा ज्ञान का अधिकरण सभी का द्रष्टा, भोक्ता, सर्वज्ञ, नित्य और सर्वव्यापक है।[1] यह शरीर के सुख -दुख के अनुभव के पृथक्त्व के कारण एक न होकर प्रति शरीर भिन्न-भिन्न आत्मा है। आत्मा की अनेकता में यह तर्क कि आत्मा के एक मानने पर बाल्यावस्था में स्मरण किए गए विषय का वृद्धावस्था में अनुभव होता है उसी तरह से अन्य के देहों द्वारा अनुभूत सुख-दु:खादि का स्मरण होता है। एक आत्मा होने पर यह सम्भव नहीं होगा।[2] इसलिए यह मानना ही ठीक है कि आत्मा अनेक हैं। आत्मा आनन्दस्वरूप नहीं है यह मत भी तार्किकों का है क्योंकि उसमें आनन्द मानने पर उसके उपभोक्ताका प्रश्न खड़ा हो जाता है और आत्मेतर कोई उपभोक्ता स्वीकार्य नहीं है।[3] न्याय की ही तरह से वैशेषिक दर्शन भी आत्मा की सत्ता स्वीकार करता है और यह मतव्यक्त करता है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मनोगति आदि के लक्षणों से आत्मा की सिद्धि होती है जिसे प्रशस्तपादभाष्यकार इस रूप में कहते हैं कि वायु की गति कुटिल होती है किन्तु प्राणवायु की गति कभी ऊर्ध्व भी देखी जाती है इसलिए इसका संचालक कोई अवश्य है। इसी भाँति निमेष-उन्मेष की क्रिया से भी आत्मा का अनुमान होती है।[4]

1· न्या० द० 1/1/9 पर भाष्य

2· ऐकात्म्ये हि यथा बाल्यावस्थायामनुभूतमप्यनुसन्धीयते ममसुखमासीन्ममदु:खमासीदिति, एवं देहान्तरानुभूतमप्यनुसन्धीयते, अनुभवितुरेकत्वात्। न चैवमस्ति, अत: प्रतिशरीरं नानात्मान:।न्या०क०,पृ०210

3· वही, पृ० 690

4· शरीरपरिगृहीते वायौ विकृतकर्मदर्शनात् भस्त्राध्मापयितेव, निमेषोन्मेष कर्मणा नियतेन दारुयन्त्रप्रयोक्तेव····। न्या० क०,पृ० 200 पर वा० भाष्य

जैसा कि संकेतित है और सुविदित है कि संख्यात्मक तत्त्व वर्णन-वाले सिद्धान्त से सांख्य पचीस तत्त्वों के क्रम में पुरूष को चेतन, साक्षी द्रष्टा और केवल स्वभावी मानता है।[1] यह प्रकृति द्वारा सृजित अविद्यात्मक सृष्टि में जब स्वयम् को कर्ता, भोक्ता और सुख-दुःख का अनुभवक मानने लगता है तो वह पुरूष होता है। यह प्रति जीवाधिष्ठित होने के कारण अनन्त है[2] और यहीं पर इसका अद्वैतविचारधारा के साथ विरोध है।

योग भी सांख्य की ही तरह पुरूष की सिद्धि करता है किन्तु वह अपने पुरूष के लिए "विशेष" शब्द का व्यवहार करके उसे पुरूष विशेष और ईश्वर पद से वाच्य करता है। इसीलिए योग का ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक आदि से असंयुक्त रहता है और योग शास्त्रकार यह मानते हैं कि ईश्वर के प्रणिधान अर्थात् उसके अनुभावन से समाधि का शीघ्र लाभ होता है।[3] इसके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए एक विद्वान् ने यह मत व्यक्त किया है कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं को उसके अधीन कर देने से या कि अपने कर्मों के फलों को ईश्वर को समर्पित कर देने से शीघ्र ही समाधि का लाभ होता है[4] और क्रियात्मक योग में समाधि की प्राप्ति ही परम लक्ष्य है।

पूर्वमीमांसा के आचार्य मुख्यरूप से तो धर्म-अधर्म पर विचार करते हैं किन्तु वे आत्मा की स्थापना और उसके लक्षणों का भी आख्यान करते हैं।

---

1. त० कौ० प्र० , पृ० 217
2. वही, पृ० 208
3. पा० यो० प्र०, पृ० 212
4. वही, पृ० 212 पर हिन्दी टीका

श्लोक वार्तिककार विस्तार से उन-उन मतों का खण्डन करते हैं जिनके द्वारा आत्मवादी अवधारणा का खण्डन कर अनात्मवादी धारणा को स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। जैसे विज्ञानवादी आत्मा को विज्ञानस्वरूप कहकर उसके क्षणिकत्व का आख्यान करते हैं। उनके इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कुमारिल भट्ट यह कहते हैं कि विज्ञानमात्र को आत्मा मानने वाले भले ही दूसरा जन्म स्वीकार करें किन्तु इससे एक ही पुरुष में यागादि का कर्तृत्व और तद् फल-भोक्तृत्व दोनों की उपपत्ति नहीं होगी। ऐसा इसलिए होगा क्योंकि ज्ञान क्षणिक है। वस्तुत: क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर देहान्तरप्राप्ति- स्वरूप जन्मान्तर ही नहीं होगा क्योंकि "अविभु" होने के कारण एक साथ ही विभिन्नकालिक विभिन्नदेशिक दो देशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। निष्क्रिय होने से एक देह से दूसरे देहों में जा भी नहीं सकता।[1]

यज्ञ विधानों के व्याख्या और कर्मफल के भोक्ता के रूप में मीमांसकों का आत्मवाद किस प्रकार सिद्ध होता है इसके लिए कहा गया है कि यद्यपि स्वर्ग के साधन के साथ आत्मा का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है फिर भी शरीर के माध्यम से आत्मा का यज्ञों के साथ सम्बन्ध है।[2]आचार्य प्रभाकर का भी यही तर्क है कि "इदमहं जानामि" ऐसा व्यवहार तब तक नहीं बन सकता, जब तक आत्मा और ज्ञान का प्रकाश स्वीकार न होगा।[3]

---

1. ज्ञानानां क्षणिकत्वाद्धि कर्तृभोक्त्रन्यता भवेत्।
   निष्क्रियत्वाविभुत्वाभ्यां न च देहान्तराश्रित:।। मी0श्लो0वा0,पृ0846-847
2. प्रत्यक्षत्वं च देहस्थं भाक्तमात्मनि कल्पतम्।
   आत्मन: स्वर्गयानं वा शरीरस्योपचर्यते।। वही, पृ0 839
3. मा0 मे0 , पृ0 183

उत्तरमीमांसा में प्रमुख रूप से आत्मा तथा ब्रह्म की सत्ता पर और इनके लक्षणों पर विचार किया गया है। इसीलिए उपनिषद् स्पष्टरूप से उद्घोष करती है कि यह अंगुष्ठमात्रपुरुष हृदयकमल के मध्य में स्थित है। इसे भूत, भविष्य और वर्तमान का शासक जानकर जो अपने शरीर को महत्व नहीं देता, वह ही ब्रह्मतत्व को जानता है।[1] यद्यपि वह हाथ-पैर रहित है फिर भी वेगवान् वस्तुओं को ग्रहण करने वाला है। वह आँख और कान से रहित है फिर भी वह सभी कुछ देखता और सुनता है। वह जानने योग्य सभी वस्तुओं को जानता है किन्तु उसे कोई नहीं जानता। ऐसा वह पुरुष है जिसे पूर्ण और महान् जानो।[2]

इसी का विस्तार करती हुई छान्दोग्योपनिषद् कहती है कि आत्मा ही नीचे है, आत्मा ही ऊपर है, आत्मा ही पीछे है, आत्मा ही आगे है, आत्मा ही दायीं ओर है आत्मा ही बायीं ओर है और यह कुछ आत्मा ही है।[3] आत्मा की इस प्रस्तुति के साथ आचार्य शंकर यह कहते हैं कि इस प्रकार जो विद्वान् आत्मरीत पाता है वह संसार के सामान्य आनन्द से पृथक् होकर आत्मानन्द को ही प्राप्त करता है।[4]

---

1. ई0 द्रा0 उ0, पृ0 29
2. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः।
   स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महन्तम्।।
   श्वे0 , पृ0 137 तथा शांकर भाष्य
3. अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति।
   छा0 उ0 , पृ0 794
4. वही, पृ0 796 पर शांकरभाष्य

आत्मवादी धारणा का समेकित स्वरूप तथा निष्कर्ष

जैसा कि इस शोध प्रबन्ध का शीर्षक है तदनुरूप इसमें वेद, उपनिषद् तथा आत्मवादी दर्शनों के विचारों का आलोडन करने के बाद जो स्वरूप सामने आता है और जिस रूप में शांकर वेदान्त में आत्मा की अवधारणा को प्रस्तुत किया जाता है वह किसी न किसी रूप में इस देश में प्रारम्भ से ही वैचारिक अन्तस् में विद्यमान थी। जैसे कि वेद यद्यपि यज्ञों के सम्पादन में प्रमुख रूप से स्तुत देवताओं की प्रार्थना तो करते हैं किन्तु वे इतने मात्र से ही सन्तुष्ट न होकर इस अनित्यात्म जगत् में और मरणधर्मा जीवमात्र के बीच में किसी ऐसे सूत्र को देखना चाहते हैं जिसमें सभी कुछ अनुस्यूत हो। तब, वे आत्मा और ब्रह्म पद का व्यवहार कर इनका ऐसा स्वरूप प्रतिपादित करने का प्रयत्न करते हैं जो उपनिषद् चिन्तन का आधार बनता है।

उपनिषदें तो "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्य:" का अपना उद्देश्य लेकर रचित की ही गई हैं, इसलिए वेदों की अपेक्षा इनमें आत्मा का स्वरूप न केवल तर्क के आधार पर स्पष्ट किया गया है अपितु एक प्रकार से ऐसे तर्क सिद्ध किया गया जो सामान्य से सामान्य व्यक्ति के लिए विश्वसनीय बन जाता है। जैसे शरीर, इन्द्रिय, जीव, मन आदि की सत्ता में असत्य का अंश निरूपित करने के बाद ही वे आत्म और ब्रह्मतत्त्व की सार्वकालिक सत्ता का निरूपण करती हैं।

उपनिषदोत्तर काल में यद्यपि चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन भी आत्मा का नाम किसी न किसी रूप में लेते हैं तथा वे नित्यात्मक सद्रूपात्मा का खण्डन करते हैं। इसके विपरीत आत्मवादी दर्शन नित्य और सद्रूप आत्मा

की स्थापना करते हैं। यह अवश्य है कि इन दर्शनों के आत्मप्रतिपादन में आचार्य शंकर की दृष्टि से कुछ भिन्नता है जैसे न्याय जीवात्मा और परमात्मा को दो रूप में स्वीकार करता है। सांख्यदर्शन इसी आत्मा को पुरूष नाम देकर पुरूष बहुत्व की सिद्धि करता है।

इन सब विचारों के क्रम से आचार्यशंकर जिस रूप में आत्मा और ब्रह्म का निरूपण करते हैं उस रूप में निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में आत्मा अथवा ब्रह्म कूटस्थ, नित्य, अपरिणामी तथा चैतन्यस्वरूप है। यह सत्, चित् तथा आनन्दरूप है। यह निर्गुण एवम् निर्विभाग है। यह सजातीय तथा विजातीय भेदों से सर्वथा रहित है इसलिए वह एक और अनन्त है। इस रूपमेंआत्मा और ब्रह्म एक ही सत् तन्त्व है तथा इसकी सिद्धि के लिए किन्हीं अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं है।

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

****

1. अथर्ववेद {प्रथम खण्ड} — संस्कृति संस्थान, बरेली-1976
2. अथर्ववेद {द्वितीय खण्ड} — संस्कृति संस्थान, बरेली-1975-1993
3. आत्मानात्मविवेक — सम्पादक-डॉ0 जगदीश चन्द्र मिश्र, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी-1973
3. इण्डियन एन्टीक्वेरी — सन्1822 अंक
5. इण्ट्रोडक्शन टू दी पूर्वमीमांसा — डॉ0पशुपतिनाथ एवं गौरीनाथ शास्त्री, चौखम्बा रिसर्च स्टडीज-1980
6. ईशावास्योपनिषद्-हरिभाष्य — जगद्गुरु श्री हर्याचार्य जी, अयोध्या-2050
7. ईशादिदशोपनिषद: {प्रथमभाग} — शांकर भाष्ययुत्, मोतीलाल बनारसीदास -1964
8. ईशादिद्वादशोपनिषद् — स्वामी विद्यानन्द गिरि जी, कैलाश विद्या प्रकाशन-1976
9. उपस्कार — जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता
10. उपनिषदों का तत्वज्ञान भाग-1 — डॉ0 जयदेव विद्यालंकार, प्राच्य विद्याशोध प्रतिष्ठान-1988
11. उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण — रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, अनु0-रामानन्द तिवारी, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर -1971
12. उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति — डॉ0राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी, परिमल पब्लिकेशन-1983
13. 108 उपनिषद् {ज्ञानखण्ड} — संस्कृति संस्थान, बरेली -1993
14. ऋग्वेद {प्रथम खण्ड} — संस्कृति संस्थान, बरेली -1976
15. ऋग्वेद {द्वितीय खण्ड} — संस्कृति संस्थान , बरेली -1976

॥ii॥

16• ऋग्वेद (तृतीयखण्ड) सं संस्कृति संस्थान, बरेली - 1975

17• ऋग्वेद (चतुर्थ खण्ड) संस्कृति संस्थान, बरेली - 1974, 1993

18• ऋग्वेद संहिता (प्रथम भाग) मोक्षमूलर
कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - 1983

19• ऋग्वेद संहिता (द्वितीयभाग) मोक्षमुलर
कृष्णदास अकादमी, वाराणसी - 1983

20• ऋग्वेद संहिता (तृतीयखण्ड) मोक्षमुलर
कृष्णदास अकादमी, 1983

21• ऋग्वेद संहिता (चतुर्थभाग) मोक्षमुलर
कृष्णदास अकादमी, वाराणसी-1983

22• ऋग्वेद में दार्शनिक तत्व डॉ० गणेश दत्त शर्मा

23• रिलीजन एण्ड फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स - ए०बी० कीथ

24• कठोपनिषद् शांकरभाष्यम् सत्यानन्द सरस्वती भाषाकृत
गोविन्दमठ, वाराणसी - 1974

25• केनोपनिषद् गीताप्रेस, गोरखपुर

26• किरणावली पदार्थधर्म संग्रह व्याख्या, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी

27• किरणावली पदार्थधर्म संग्रह व्याख्या
एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता।

28• केनोपनिषद् गीताप्रेस , गोरखपुर

29• छान्दोग्योपनिषद् शांकरभाष्य सहित,
गीताप्रेस, गोरखपुर -सं० 2028

30 जनरल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी वर्ष 1911

31• जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी वर्ष 1930

32• तर्कदीपिका अन्नंभट्ट, वाराणसी

33• तर्कभाषा
परा जये का संस्करण

§IIII§

34. तर्क संग्रह — अन्नं भट्ट , डॉ० चन्द्रशेखर द्विवेदी
महालक्ष्मी प्रकाशन, आगरा-1993

35. तर्कसंग्रह — न्यायबोधिनी टीका सहित
श्री हरिकृष्णनिबंध भवनम्, बनारस -1955

36. तत्त्व कौमुदी प्रभा — डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र
अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद सं० 2037

37. तन्त्रीसिद्धान्तरत्नावली — सं० चिन्नस्वामी शास्त्री
का०हि० विश्व विद्यालय, सं० 2041

38. द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन — डॉ० कृष्णकान्त चतुर्वेदी
विद्यामंदिर प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली -1971

39. निरुक्त — यास्काचार्य

40. प्रशस्तपादभाष्यम् §न्यायकन्दली व्याख्या§ — वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय, वाराणसी
प्र० सं० 2034

41. न्याय कुसुमाञ्जलि — श्री बच्चा झा
चौखम्बा संस्कृत सीरिज वि० 2013

42. हिन्दी न्याय दर्शन — व्याख्या- आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री
च्चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी -1970

43. न्याय मंजरी — जयन्त भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी-1937

44. न्याय लीलावती — बल्लभाचार्य, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

45. पातञ्जलयोगप्रदीप — स्वामी ओमानन्द तीर्थ
गीताप्रेस, गोरखपुर - सं० 2045

46. प्रश्नोपनिषद् — शांकरभाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2030

47. प्रकरण पंजिका — सं० सुब्रह्मण्य शास्त्री, काशी हिन्दू वि० विद्यालय
- 1966

48. द प्रिंसिपल उपनिषद्स § डॉ० राधाकृष्णन§

49. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य — स्वामी हनुमान षट्शास्त्री
भूमिका- डॉ० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय
चौखम्बा विद्याभवन - 1982

॥ ॥

50. बौद्ध दर्शनेषु अनित्यतानात्मता- डा० गदाधर त्रिपाठी
51. वादयोर्विकासो विमर्शश्च इण्डोविजन प्राइवेट लि०-गाजियाबाद 1987
51. बौद्ध दर्शन और वेदान्त चन्द्रधर शर्मा
विजन विभूति प्रकाशन, इलाहाबाद-1994
52. श्री मद् भगवद् गीता गीताप्रेस, गोरखपुर - 2036
53. श्री मद् भगवद् गीता गीता प्रेस, गोरखपुर- सं० 2043
54. श्री मद् भागवत् पुराण मूलमात्र गीताप्रेस, गोरखपुर -सं० 2010
55. भारतीय दर्शन उमेश मिश्र
उत्तर-प्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ-1957
56. भारतीय दर्शन आचार्य बल्देव उपाध्याय
शारदा मन्दिर, वाराणसी- 1971
57. भारतीय दर्शन का इतिहास दासगुप्ता
58. भारतीय न्याय-एक अध्ययन डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी
इन्दु प्रकाशन दिल्ली - 1967
59. मानमेयोदय सम्पादक- सी कुन्हनराजा
थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस
मद्रास - 1933
60. मानमेयोदय॥नारायणद्वयी प्रणीत॥ योगीन्द्रानन्दकृत
षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठानम् वाराणसी- 1978
61. मिथिला विद्यापीठ वृत्ति दरभंगा प्रकाशन - 1957
62. मीमांसा दर्शन मण्डन मिश्र
जयपुर प्रकाशन
63. मीमांसा प्रमेय डा० राम प्रकाशदास
प्रकृति प्रकाशन, नई दिल्ली 1988

64. मीमांसाश्लोकवार्तिक — व्याख्या- पं० दुर्गाधर झा
काामेश्वरसिंहदरभंगासंस्कृतविश्वविद्यालय
दरभंगा- 1979

65. यजुर्वेद — संस्कृति संस्थान, बरेली-1976;1993

66. श्री विष्णुपुराण प्रथमखण्ड — संस्कृति संस्थान, बरेली- 1986

67. विष्णुपुराण द्वितीय खण्ड — संस्कृति संस्थान, बरेली- 1984

68. वेदान्त दर्शन — पाल डायसन हिन्दी अनुवाद-
हिन्दी ग्रन्थ अकादमी लखनऊ 1971

69. वेदान्त परिभाषा — सम्पादक- डा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर
चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी-1983

70. वेदान्तसार — सम्पादक-डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी
साहित्य भण्डार, मेरठ- 1986

71. वैदिक इण्डेक्स भाग-1 — मैकडानल एवम् कीथ

72. वैष्णव उपनिषदों का समीक्षात्मक अध्ययन — डा० रुद्र कुमार त्रिवेदी
सुरभारती प्रकाशन, कानपुर-1987

73. वैदिक एज — मजूमदार एवं पुसलकर

74. वैदिक दर्शन — डा० फतेह सिंह
भारतीय भण्डार, इलाहाबाद, सं02019

75. वैशेषिक दर्शन-तुलनात्मक — डा० बी० एन० सिंह
आशा प्रकाशन, वाराणसी-प्र० सं०

76. वैशेषिक फिलासफी — डा० उई
चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

77. वैदिक माइथोलाजी ए० ए० मैकडानल — अनु०- रामकुमार राय
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1984

78. वैशेषिक सूत्र — चौखम्बा प्रकाशन

79.	वैशेषिक सूत्र	चौखम्बा प्रकाशन
80.	वैशेषिक दर्शन एक अध्ययन	श्री नारायण मिश्र चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी - 1968
81.	वैदिक साहित्य एवं संस्कृति	बल्देव उपाध्याय
82.	वैदिक साहित्य संस्कृति और दर्शन	डा० विश्वम्भरदयाल अवस्थी सरस्वती प्रकाशन मन्दिर इलाहाबाद- 1983
83.	शतपथ ब्राह्मण	प्राचीन वैज्ञानिक अध्ययन अनुसन्धान संस्थान, दिल्ली -1967
84.	शतपथ ब्राह्मण	
85.	शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन	डा० उर्मिला देवी शर्मा नई दिल्ली - 1982
86.		मेहरचन्द लछमनदास प्रकाशन
86.	शास्त्र दीपिका	निर्णय सागर प्रेस बम्बई - 1915
87.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	डा० तुलसीराम शर्मा ईस्टर्न बुक लिंकर्स दिल्ली - 1976
88.	सामवेद	संस्कृति संस्थान, बरेली - 1975
89.	सागरिका	विश्वविद्यालयीय त्रैमासिक संस्कृत साहित्य परिषद् सागर वि० वि० वर्ष० 10 अंक 4
90.	सारस्वती सुषमा	सं० संस्कृत वि० वि० वाराणसी वर्ष० 18 अंक 3

91. सारस्वती सुषमा वर्ष 19 अंक 13 त्रैमासिकी - संस्कृत विश्व विद्यालय वाराणसी

92• सिद्धान्त कौमुदी-बालमनोरमा चतुर्थ भाग — चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस बराणसी - 1958

93• सिक्स सिस्टम्स् आफ इण्डियन फिलासफी — मैक्समुलर

94• सांख्य सूत्र — अनिरुद्धवृत्ति सहित

95• सांख्य कारिका — पं० ढुण्ढिराज शास्त्री चौखम्बा संस्कृत आफिस, बाराणसी 1980

96• सेश्वर मीमांसा आफ बेदान्त देशिक — डा० बी० उपाध्याय एस० एन० पब्लिकेशन, दिल्ली 1981

97• हिन्दू सभ्यता — डा० राधा कुमुद मुखर्जी राजकमल प्रकाशन